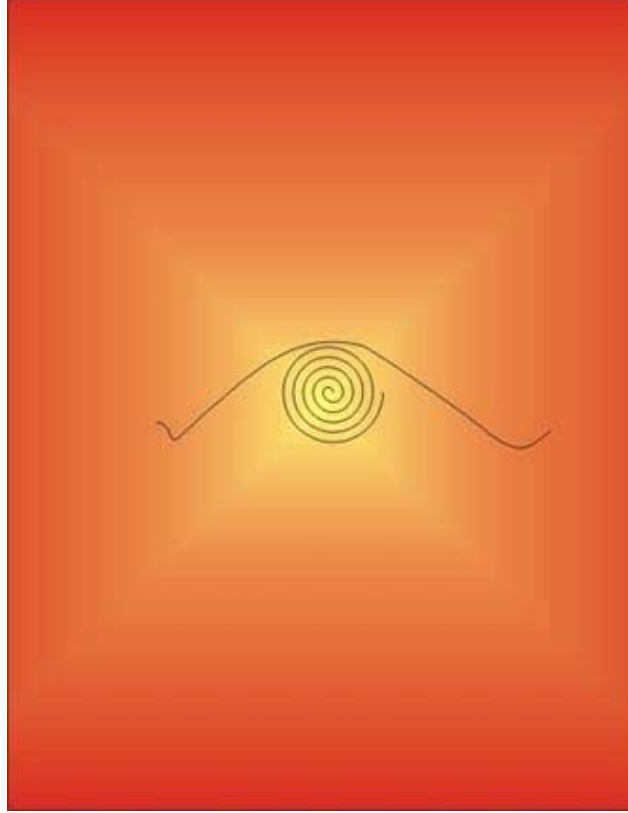


चतुर्दिक दृष्टि

विभिन्न विषयों पर कुछ विचारोत्तेजक लेख



अनिल चावला

प्रथम प्रकाशक
अखिल भारतीय राष्ट्रीय साहित्य परिषद
भोपाल

इंटरनेट संस्करण प्रकाशक
www.samarthbharat.com

विषय-सूची

क्रमांक	शीर्षक	पृष्ठ
धर्म एवं समाज		
१	हिन्दू धर्म – अर्वाचीन विश्व धर्म	४
२	सामाजिक चेतना, धन और कृष्ण	११
३	पशुपालन का अर्थशास्त्र और श्रीमद्भगवद्गीता	१४
४	भारत – सोने की चिड़िया	१७
५	वाटर, वाराणसी और विश्व के अन्य पवित्र नगर	२०
संविधान एवं लोकतंत्र		
६	लोकतंत्र, भीड़तंत्र तथा विश्वविद्यालय	२३
७	सेना, नेता और लोकतंत्र	२५
८	राजनैतिक व्यवस्था का कैसर	२७
९	अंधों में काना और लोकतंत्र	२९
१०	अक्ल, भैंस, लाठी और लोकतंत्र	३२
११	चुनाव आयोग, लोकतंत्र और भस्मासुर	३५
१२	संविधान समीक्षा आयोग – ना सूत ना कपास	३८
१३	लोकतंत्र का कठपुतलीकरण तथा महिला आरक्षण विधेयक	४१
राजनीति		
१४	भारतीय राजनैतिक दल और मुसलमान	४४
१५	लालू, शबनम मौसी तथा भारतीय राजनीति का विदूषकीकरण	४७

१६ मूर्ख ब्राम्हण की कथा तथा भारतीय राजनैतिक दल ५०

पाकिस्तान तथा कारगिल संघर्ष

१७ पाकिस्तान – विखण्डित मानसिकता वाला देश ५३

१८ भूमि के लिए नहीं सिद्धांतों के लिए लड़ें ५६

१९ पाकिस्तान से नहीं, इस्लामी राष्ट्रवाद से संघर्ष करें ५६

२० अमरीका, पाकिस्तान और चूसे हुए आम ६२

२१ बात निकलेगी तो दूर तलक जाएगी ६५

२२ सोमनाथ, कारगिल तथा कागज, कलम एवं मेज की लड़ाई ६८

भारतीय शासन तंत्र

२३ रेल दुर्घटना और सरकारी तंत्र की कार्यकुशलता ७१

२४ विमान अपहरण तथा भारतीय शासन तंत्र के स्तंभ ७४

उच्च शिक्षा

२५ महुँगी तकनीकी शिक्षा – सामाजिक दृष्टिकोण ७७

बैंकिंग

२६ एक डूबत खाते की कथा ८१

लेखक परिचय – ८४

प्राकथन

हमारे गणतंत्र को पचास वर्ष पूरे हो चुके। इन पचास वर्षों में हमने निश्चय ही प्रगति की पर कुछ अन्य देशों ने हमसे बहुत अधिक प्रगति की। एक हजार वर्षों की गुलामी के बाद स्वतंत्र हवा में साँस लेते हुए अपने भाग्यविधाता स्वयं बनने का जो सुख है, उसका तो हम आनन्द उठा रहे हैं परन्तु उससे जुड़ी जो जिम्मेदारियाँ हैं, उनको हम कितनी कुशलता से वहन कर रहे हैं यह प्रश्न उठाया जा सकता है। राजनैतिक, संवैधानिक, सामाजिक, आर्थिक, औद्योगिक, धर्मसंबंधी, नीतिगत तथा विभिन्न अन्य क्षेत्रों में हमारी संरचना, व्यवस्थाएँ, विश्वास एवं परंपराओं पर भी प्रश्न उठने चाहिए।

प्रश्न उठाना तथा उसका उत्तर ढूँढते हुए परीक्षण एवं आत्मनिरीक्षण करना यह मानव समाज की प्रगति का मूल कारण है। यही विचार-विमर्श की प्रक्रिया कहलाती है। अपने लेखों में सदा मेरा प्रयास होता है कि मैं अपनी सीमित बुद्धि एवं अल्प अनुभव के बावजूद भारतीय समाज में वैचारिक मंथन को अधिक तेज करने के लिए उत्प्रेरक का कार्य कर सकूँ। इस कार्य में मैं कितना सफल हो पाया है इसका निर्णय या तो आप, पाठकगण करेंगे या फिर इतिहास करेगा। पर मैं जानता हूँ कि मेरी भूमिका उत्प्रेरक से आगे बढ़कर कुछ भी नहीं है।

विचारों के मंथन को गति देखने के लिए कई बार हमें अपनी सबसे अधिक प्रिय मान्यताओं एवं विश्वासों को चुनौती देनी पड़ती है। मानस को झिंझोड़ने की यह प्रक्रिया पीड़ादायक होती है परन्तु इसी पीड़ा से नये विचारों के अंकुर स्फुटित होते हैं। यदि मेरे लेख आप के मन-मस्तिष्क में एक छोटा सा भूचाल ला सकें तो मैं अपने श्रम को सफल मानूँगा। इससे जुड़ी पीड़ा के लिए मैं आपसे क्षमा भी नहीं माँगूँगा क्योंकि यह पीड़ा ही व्यक्ति एवं समाज के विकास का मार्ग प्रशस्त करती है।

विभिन्न विषयों पर अपने विचार व्यक्त करते हुए मैं कई बार अपने विचारों की रौ में बहता चला जाता हूँ और उत्प्रेरक की अपनी भूमिका को भूल उपदेशक की दंभपूर्ण भाषा बोलने लगता हूँ। आशा है कि इस गंभीर त्रुटि के लिए मेरे पाठक मुझे क्षमा करेंगे।

जर्मन दार्शनिक नीत्शे ने कहा था कि एक स्वतंत्र चिंतक की उस समय मृत्यु हो जाती है जब वह अपने विचारों पर पूर्णतः विश्वास करने लगता है, जब वह मानने लगता है कि उसने जो कुछ सोचा एवं लिखा है वह पूर्णतः सत्य है। मुझे लगता है कि मैं अभी जीवित हूँ अतः मेरा आग्रह यह कतई नहीं हो सकता कि मैंने जो कुछ लिखा है वह त्रुटिहीन है, अन्तिम है। अपने लेखन को मैं भारत की विचार सरिता की एक बूँद मात्र मानता हूँ। यदि

मेरी यह छोटी सी बूँद एक विराट सरिता के प्रवाह में कुछ योगदान कर सके तो मेरा जीवन धन्य होगा।

पिछले दो वर्षों के कालखण्ड में लिखे गये अनेक लेखों में से कुछ इस पुस्तक के रूप में संकलित किये गये हैं। प्रत्येक लेख के नीचे लेखन की दिनांक दी गयी है ताकि उल्लेखित घटनाओं का संदर्भ स्पष्ट हो सके।

मैंने जो कुछ लिखा वह मेरा कहाँ रहा। अतः अपनी किसी भी रचना पर मैं कॉपीराइट संबंधी कोई बंधन नहीं रखता हूँ। इस संकलन के सभी लेख 'सर्वाधिकार पूर्णतः मुक्त' हैं अतः कोई भी व्यक्ति इन्हें किसी भी रूप में पुनः प्रकाशित करने के लिए स्वतंत्र है। यदि मेरा लेखन किसी भी प्रकार से, किसी भी रूप में समाज के किसी भी काम आ सकेगा तो मैं अपने प्रयास को सफल मानूँगा।

इस संकलन में सम्मिलित सभी लेख हिन्दी तथा अंग्रेजी में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं प्रकाशित हो चुके हैं। इनका अंग्रेजी संस्करण इंटरनेट पर मेरे साइट पर भी उपलब्ध है। इन लेखों को हिन्दी में पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने की प्रेरणा मुझे श्रीमती माया सिंह ने दी, जिसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। संकलन, प्रकाशन तथा मुद्रण संबंधी मार्गदर्शन के लिए मैं डा० देवेन्द्र दीपक एवं श्री पुष्पेन्द्र वर्मा का आभारी हूँ। साथ ही मैं उन सब मित्रों का आभारी हूँ जिनसे समय-समय पर चर्चा कर मैं अपने विचारों को समृद्ध करता हूँ।

अनिल चावला

e-mail: anil@samarthbharat.com

hindustanstudies@rediffmail.com

Website - <http://www.samarthbharat.com>

प्रकाशकीय

भोपाल निवासी श्री अनिल चावला शिक्षा की दृष्टि से मैकेनिकल इंजीनियर हैं, व्यवसाय की दृष्टि से उद्यमी हैं, अभिरुचि से दार्शनिक हैं, विधि विशेषज्ञ हैं, अनुभव से बाजार विशेषज्ञ हैं किन्तु लेखन के क्षेत्र में वे स्वेच्छा से लिखने वाले व्यक्ति हैं। मैंने उन्हें एक प्रतिभासम्पन्न बुद्धिजीवी के रूप में ही देखा है।

बौद्धिक चुनौतियों से जूझना उन्हें सदैव अच्छा लगता है। वे ऐसे विषयों पर निर्भीक होकर लिखते हैं जिनसे अन्य लेखक अकसर कतरा जाते हैं। वे विषय चुनते हैं, सामग्री संचित करते हैं, चिन्तन करते हैं फिर लिखते हैं।

'चतुर्दिक दृष्टि' में उनके छब्बीस लेख संकलित हैं। उनके लेखों का यह प्रथम संकलन है। इससे पूर्व उनके द्वारा रचित 'भारत के नये संविधान का प्रारूप' अत्यंत चर्चित रहा है।

अपने लेखन में श्री चावला एक उत्प्रेरक की भूमिका निभाते हैं। वे चाहते हैं कि इन विषयों पर अपने विचार प्रकाशित कर दें और फिर समाज के विभिन्न अनुशासनों के विचारक उनके विचारों को परखें और यों समाज में एक बहस शुरु हो। मस्तिष्क की खिड़कियाँ जब खुली रहती हैं, तब ही विचार मन्थन होता है और परिष्कार की प्रवृत्ति पनपती है। परिवर्तन के लिए यह प्रक्रिया अति आवश्यक है।

अखिल भारतीय साहित्य परिषद् देश की समस्त भाषाओं के रचनाकारों का एक साझा मंच है। उनके विचारों का प्रकाशन परिषद् के महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों में से एक है। इसी दृष्टि से परिषद् ने 'चतुर्दिक दृष्टि' का प्रकाशन किया है। विचार लेखक के अपने हैं और इसके लिए वे स्वयं उत्तरदायी हैं।

मुझे विश्वास है कि भारतीय वैचारिक जगत में इस पुस्तक का स्वागत होगा। पाठक अपनी प्रतिक्रियाओं से अवश्य अवगत कराएँ।

भोपाल

विजयादशमी, विक्रम संवत् २०५७,
७ अक्तूबर, ईस्वी २०००

डॉ० पुष्पेन्द्र वर्मा

राष्ट्रीय मंत्री एवं प्रान्ताध्यक्ष
अ० भा० साहित्य परिषद्

१ हिन्दू धर्म - अर्वाचीन विश्व धर्म

पूरे भारतवर्ष में और विश्व के कोने-कोने में फैले करोड़ों लोग ऐसे हैं जो स्वयं को हिन्दू कहते हैं, फिर भी बार-बार यह प्रश्न उठता है कि कौन हिन्दू है। हिन्दू को परिभाषित कोई भौगोलिक आधार पर करता है, कोई पूजा और विश्वास के आधार पर करता है व कोई इसे प्राचीन संस्कृति से जोड़ता है। इस तरह का विवाद केवल हिन्दू के साथ ही है। इस्लाम, क्रिश्चैनिटी, इत्यादि के साथ ऐसा कोई विवाद नहीं है। ये सभी धर्म एक पुस्तक पर आधारित हैं और पुस्तक में विश्वास धर्म का मूल आधार होता है। हिन्दू किसी एक पुस्तक, एक अवतार या एक देवालय को मानने के लिए बाध्य नहीं है। इस स्वतंत्रता के कारण ही हिन्दू को परिभाषित करना कठिन हो जाता है।

इस विवाद के पीछे की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझना भी आवश्यक है। एक हजार वर्षों की गुलामी के दौरान अस्तित्व की एक ऐसी लम्बी लड़ाई हिन्दू ने लड़ी है जो मानव इतिहास में अद्वितीय है। इस संघर्ष गाथा को समझने के लिए हमें अमेरिका से अपनी तुलना करनी होगी। श्वेतवर्णी नस्ल के लोगों का एक समूह अमेरिका पहुँचा और दूसरा भारत। उस समय अमेरिका और भारत की आबादी लगभग बराबर थी। आज अमरीका के मूल निवासी लगभग लुप्त हो चुके हैं। उनकी सभ्यता, संस्कृति, धर्म इत्यादि लगभग मर चुके हैं; कुछ अवशेष बाकी हैं जिन्हें अजायबघरों में रखी चीजों की तरह लोग देखते हैं और आश्चर्य करते हैं। भारत में भी कुछ उसी प्रकार के अत्याचार किए गये लेकिन हम मिटे नहीं। बिना किसी शंका के यह अवश्य कहा जा सकता है कि एक भव्य इमारत को तोड़-फोड़ कर तहस-नहस कर दिया गया।

इन एक हजार वर्षों की गुलामी में देश की सभी पारम्परिक संस्थाओं को योजनाबद्ध ढंग से नष्ट किया गया। हमारी पुस्तकों तथा पुस्तकालयों को जला दिया गया। ज्ञान के संरक्षण तथा संवरण में जो लोग लगे थे, उन्हें येन-केन-प्रकारेण उस काम से हटाया गया। हिन्दू धर्म के प्रतीकों को इस धरा से मिटाने का प्रयास किया गया। एक महान सभ्यता को मिटा कर राख कर दिया गया। आज हम उस राख और कुछ अधजली लकड़ियों को लेकर बैठे हैं और सपना संजो रहे हैं एक बार फिर उस भव्य भवन को बनाने का, पुर्ननिर्माण का।

पोलैंड में कम्युनिस्टों को हटाकर जब लेच वालेसा राष्ट्रपति बने तो उन्होंने कहा था कि एक मछली से मछली का सूप बनाना बहुत आसान है पर मछली के सूप से पुनः मछली बनाना अत्यन्त कठिन है। यदि उनके उदाहरण को भारत पर लागू करें तो यहाँ तो मछली का सूप भी नहीं है, सूप तो आक्रमणकर्ता पी गये। अब हमारे पास कुछ अवशेष बचे हैं जिनसे हमें एक जीवंत व्यवस्था और संस्कृति का निर्माण करना है।

इस लंबे संघर्ष से जीवित निकल आना एक बड़ी उपलब्धि है पर हमने बहुत कुछ खोया है। सबसे बड़ा नुकसान जो हमें हुआ है वह है हमारी स्वयं की पहचान का। एक भीषण, भयंकर आग की विभीषिका से किसी तरह जीवित बचने में सफल व्यक्ति पहले अपने शरीर के जख्मों एवं फफोलों की ओर देखता है, अपने तन की नग्नता की ओर उसका ध्यान नहीं जाता। पिछले पचास वर्षों में हम अपनी मूलभूत न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करने में व्यस्त थे। शनैः शनैः अब हम स्वयं से प्रश्न करने लगे हैं कि हम कौन हैं। अपनी पहचान को ढूँढने के प्रयास का प्रथम चरण यह प्रश्न है कि हिन्दू कौन है? यह

उस नीव के पत्थर को ढूँढने का प्रयास है जिसके आधार पर हिन्दू पुनर्निर्माण एवं पुनुरुत्थान के कार्य का शुभारंभ किया जा सकता है।

वर्तमान में हिन्दू की कई परिभाषाएँ परिचलित हैं। उनकी चर्चा करना यहाँ प्रासंगिक होगा। एक परिभाषा भौगोलिक आधार पर है। यह कहा जाता है कि सिन्धु शब्द का अपभ्रंश रूप हिन्दू है। पश्चिम से आक्रमण करने वालों ने सिन्धु नदी के पास रहने वालों को हिन्दू कहना प्रारंभ किया। भौगोलिक आधार पर हिन्दू को परिभाषित करने वाले हर उस व्यक्ति को हिन्दू मानते हैं जो भारत की भूमि पर रहता है तथा इस भूमि के प्रति श्रद्धा रखता है। हिन्दू की इससे संकुचित एवं संकीर्ण परिभाषा संभवतः कोई अन्य नहीं हो सकती। यदि यह मान लिया जाए कि आक्रमणकारियों ने हिन्दू शब्द की रचना की तो यह भी मानना पड़ेगा कि आक्रमण के पूर्व हिन्दू धर्म का कोई अस्तित्व ही नहीं था। यदि यह मान लिया जाए कि भारत की भूमि पर रहने वाला ही हिन्दू है तो थाईलैंड के हिन्दू मंदिरों के बारे में हम क्या कहेंगे तथा नेपाल किस अर्थ में हिन्दू राष्ट्र कहा जा सकता है। यह साधारणतः स्वीकार किया जाता है कि एक समय पूरे एशिया में हिन्दू धर्म एवं संस्कृति का बोलबाला था। यदि हिन्दू धर्म एक भूखण्ड के प्रति श्रद्धाभाव पर आधारित था तो उसका विस्तार उस भूखण्ड की सीमाओं के बाहर असंभव था। आज की परिस्थितियों में यदि हम पूरे विश्व के हिन्दुओं से एक भूमि विशेष के प्रति श्रद्धा रखने को कहें तो कतिपय स्वार्थों की पूर्ति तो हो सकती है, परन्तु इससे हिन्दू धर्म का विकास अवरूद्ध होगा तथा हिन्दू धर्म एक विश्वव्यापी वैचारिक क्रांति बनने के स्थान पर एक भूखण्ड के निवासियों की स्वार्थसिद्धि का माध्यम मात्र रह जाएगा।

हिन्दू धर्म की एक परिभाषा परम्परावादी आधार पर की जाती है। यह कहा जाता है कि भारत की प्राचीन संस्कृति एवं परम्पराओं को मानने वाला हिन्दू है। वैचारिक शून्यता की जो झलक भौगोलिक परिभाषा में दिखाई देती है, वही परम्परावादी परिभाषा में भी दिखाई देती है। इस परिभाषा को मानते ही हम प्रत्येक प्राचीन परम्परा को अच्छा मानने लगते हैं तथा हर नये विचार को बुरा। पुरातन को सनातन मान, पूज्य मान लेना और उसको समझने के प्रयासों के स्थान पर भक्ति तथा श्रद्धा से दिमाग पर ताले डालने का प्रयास हिन्दू की पहचान कतई नहीं हो सकती। यदि हिन्दू धर्म ऐसा होता तो वेदों के बाद उपनिषदों एवं पुराणों की रचना संभव नहीं थी। प्राचीन ग्रंथों में जो विरोधाभास एवं मतभिन्नता दिखाई देती है, प्राचीन को पूज्य मान लेने से वह न केवल उलझनें उत्पन्न करेगी अपितु हिन्दू धर्म का विकास अवरूद्ध कर देगी। साथ ही जब प्राचीन के कुछ भग्नावशेष ही उपलब्ध हों तथा देश-काल की परिस्थितियों में मूलभूत परिवर्तन आ चुका हो तब हमें शाश्वत मूल्यों से पुनर्निर्माण प्रारंभ करना होगा। पुरातन से मार्गदर्शन लेना तो उचित है परन्तु प्रत्येक प्राचीन परंपरा पूज्य है इस भाव को त्यागना आवश्यक है। ऐसे में हिन्दू धर्म की परम्परावादी परिभाषा न केवल अपूर्ण है, यह हिन्दुत्व के विकास में पथ पर एक विशाल अवरोध है।

हिन्दू को परिभाषित करने के लिए कई बार कुछ मान्यताओं तथा प्रतीकों को भी आधार बनाया गया है – हिन्दू वो जो राम की पूजा करे, वो जो गाय की पूजा करे, वो जो कृष्ण की पूजा करे, वो जो गंगा को पवित्र माने, वो जो तुलसी को पवित्र माने, वो जो ओम् से पूजा प्रारंभ करे इत्यादि। उपरोक्त सभी मान्यताएँ कुछ हिन्दुओं के विश्वास का केन्द्र रही हैं परन्तु हिन्दू धर्म का मूल आधार इनमें से कोई अकेले या सब मिलकर भी नहीं हैं। एक ओर जहाँ राम की पूजा करने वाले हिन्दू हैं तो दूसरी ओर निर्गुण ब्रह्म के उपासक भी हिन्दू हैं। गंगा को पवित्र माना जाता है तो संतों ने 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' भी कहा है। मूर्ति पूजा करने वाले भी हिन्दू हैं तथा मूर्ति पूजा का विरोध करने वाले भी। ओम् एवं गायत्री मंत्र के उपासक हिन्दू हैं तो कृष्ण को प्रेमी मान रास रचाने वाले भी हिन्दू हैं। हिन्दू धर्म में

भक्ति का गुणगान है तो भक्ति का विरोध करने वाले कर्मयोगी एवं ज्ञानमार्गी हिन्दू भी हैं। स्पष्टतः हिन्दू की परिभाषा किसी एक मान्यता, परम्परा अथवा प्रतीक के आधार पर नहीं की जा सकती।

व्यावहारिक रूप से एवं वैधानिक रूप से मान्य हिन्दू की परिभाषा है – प्रत्येक वह व्यक्ति जिसके माता-पिता हिन्दू हैं अथवा थे तथा जिसने कोई अन्य धर्म स्वीकार नहीं किया है, वह हिन्दू है। यह परिभाषा हिन्दू की शायद सर्वाधिक मान्य परिभाषा है। पिछले लगभग सौ से अधिक वर्षों से हिन्दू धर्म के तथाकथित संरक्षकों व भारत के शासकों ने इसी परिभाषा को अपनाया हुआ है। इस परिभाषा को मानने पर कोई भी व्यक्ति जन्म से हिन्दू हो सकता है, हिन्दू धर्म अपना नहीं सकता। हिन्दू धर्म को जितनी हानि इस परिभाषा से हुई है उतनी संभवतः किसी अन्य परिभाषा से नहीं हुई। हिन्दू धर्म का प्रसार जब मिस्र से लेकर जापान तक हुआ था, स्वाभाविक है कि तब ऐसी कोई परिभाषा नहीं रही होगी। ईसाई मिशनरियों तथा इस्लामी आक्रमणकर्ताओं द्वारा हिन्दू धर्म को जो क्षति हुई, शायद उससे अधिक क्षति अन्य धर्मावलंबियों का हिन्दू धर्म में प्रवेश रोकने से हुई है। स्वामी विवेकानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द इत्यादि विभिन्न विचारकों ने इसके बारे में स्पष्ट मत व्यक्त किये हैं। आज जब हम हिन्दू धर्म की पताका पूरे विश्व में लहराना चाहते हैं, हमें विश्व के कोने-कोने में नए हिन्दू बनाने होंगे तथा पैतृक आधारित परिभाषा को पूरी तरह नकारना होगा।

उपरोक्त सभी परिभाषाओं से भिन्न एक परिभाषा है जो स्वीकार्य प्रतीत होती है। 'हिन्दू' शब्द का संधि-विच्छेद करने पर पता लगता है कि 'हिन्दू' दो शब्द दो शब्दों को जोड़ कर बना है – 'ह' एवं 'इन्दु'। 'ह' का अर्थ है आकाश और 'इन्दु' का अर्थ है चन्द्रमा। आकाश में चन्द्रमा की तरह शीतल प्रकाश फैलाने वाला हिन्दू है। हिन्दू से जुड़ा दूसरा शब्द है भारत जो कि 'भा' तथा 'रत' दो शब्दों से मिलकर बना है। 'भा' का अर्थ है प्रकाश तथा 'रत' का अर्थ है तप्त। अतः भारत का अर्थ है प्रकाश से तप्त। यदि हम ध्यान से देखें तो भारत एवं हिन्दू का अर्थ एक ही है। 'भारतवर्ष' शब्द का भी प्रयोग एक भूभाग के लिए होता रहा है। वर्ष का अर्थ है वर्षा। यदि भारत एवं वर्ष के अर्थों को जोड़ दें तो स्पष्ट है कि भारतवर्ष शब्द का प्रयोग उस भूभाग के लिए हुआ जहाँ हिन्दू प्रकाश की वर्षा हो। भारत एक भूभाग मात्र नहीं है। भारत तो उस ज्योतिपुंज का नाम है जो सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशमय करता था। हिन्दू तो वह है जो विश्व में कहीं भी हो वहाँ के वातावरण को प्रकाशमय कर देगा।

'इन्दु' का एक अन्य अर्थ भी लिया जा सकता है। संस्कृत में समुद्र को इन्दुजनक कहा गया है। 'ह' का अर्थ आकाश के साथ-साथ जल के रूप में भी शब्दकोष में उल्लेखित है। 'ह' एवं 'इन्दु' के विभिन्न अर्थों को जब हम समग्र रूप से देखते हैं तो हिन्दू शब्द में सागर से आकाश के मध्य फैला सम्पूर्ण ब्रम्हांड समाया है। अतः यह निष्कर्ष निकालना उपयुक्त होगा कि जो कोई सागर से आकाश के मध्य विस्तारित सम्पूर्ण ब्रम्हांड में विश्वास रखता है, वह हिन्दू है। ब्रम्हांड के लिए अंग्रेजी में 'कॉसमॉस' तथा 'यूनिवर्स' शब्दों का प्रयोग होता है। विज्ञान तथा हिन्दू विचारधारा में ब्रम्हांड को परिवर्तनशील परन्तु शाश्वत माना गया है अर्थात् ब्रम्हांड सदा था तथा सदा रहेगा। हिन्दू स्वयं को इस ब्रम्हांड के अंश के रूप में देखता है। हिन्दू की आस्था, विश्वास, श्रद्धा, आचार, विचार, जीवनशैली ब्रम्हांड के नियमों से संचालित होती हैं। ये नियम क्या हैं – इसके विषय में मतभेद एवं विवाद हो सकते हैं पर मूलभाव वही रहेगा। आप और मैं ब्रम्हांड को भिन्न-भिन्न नजरिए से देखें यह तो संभव है। पर यदि अंतर केवल दृष्टि का है तथा हम दोनों में से किसी का कोई पूर्वाग्रह नहीं है तो हम दोनों हिन्दू हैं।

हिन्दू को समझने के साथ-साथ 'धर्म' शब्द को समझना भी आवश्यक है। धर्म वह है जो धारण किया जाता है। धर्म की तुलना वस्त्र से करना उचित होगा। जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति अपनी प्रकृति एवं देश-काल के अनुसार वस्त्र परिवर्तन करता है, उसी प्रकार हिन्दू के लिए धर्म परिवर्तनशील है। धर्म की यह अवधारणा विश्व के किसी अन्य एकल-पुस्तक-आधारित धर्म में संभव ही नहीं है। किसी हिन्दू का

धर्म जहाँ एक ओर उसे ब्रम्हांड के अनुरूप जीवनयापन में मदद करता है, वहीं दूसरी ओर धर्म उसे स्वयं के स्वभाव तथा प्रकृति के अनुरूप आचरण करने में सहायता करता है। जिस प्रकार ब्रम्हांड को परिवर्तनशील परन्तु शाश्वत माना गया है उसी प्रकार धर्म को परिवर्तनशील परन्तु सनातन अर्थात् स्थायी माना गया है।

ब्रम्हांड से एकीकरण तथा तदानुरूप धर्म की अवधारणा को ही हिन्दू धर्म कहा जा सकता है। इस गूढ़ दर्शन को व्यावहारिक रूप से समझने के लिए जिस सूत्र का प्रयोग किया गया है, वह है – **सत्यम् शिवम् सुन्दरम्**। यह सूत्र हिन्दू धर्म को पूर्णतः परिभाषित करता है। इस सूत्र की विस्तार से चर्चा करना आवश्यक है।

सत्यम् – हिन्दू धर्म की प्रथम शर्त है सत्य। अपनी इंद्रियों के माध्यम से प्राप्त संकेतों का उपयोग कर मनुष्य अपने मानस पर जगत् का एक प्रतिबिम्ब बनाता है। यदि यह प्रतिबिम्ब जगत् से मेल खाता है तो यह सत्य है अन्यथा असत्य। हमारी समझने की, देखने की, अनुभव करने की क्षमताएँ सीमित हैं अतः जगत् का प्रतिबिम्ब बनाने की हमारी सीमाएँ हैं। जिस प्रकार चार अंधों द्वारा एक ही हाथी का भिन्न-भिन्न वर्णन किया गया था, उसी प्रकार हम अपने मानस में एक ही जगत् के भिन्न-भिन्न प्रतिबिम्ब बनाते हैं। उदाहरण के लिए एक फूल को कवि तथा जीववैज्ञानिक अलग-अलग ढंग से देखेंगे। हिन्दू इस दृष्टि-भिन्नता, मतांतर को स्वीकार करते हुए सत्य को सर्वोपरि मानता है। यदि कोई विचार सत्य के विपरीत है तो उसे हिन्दू कभी स्वीकार नहीं कर सकता। सत्य के लिए प्रमाण आवश्यक है। किसे प्रमाण माना जाए एवं किसे प्रमाण के रूप में अस्वीकार कर दिया जाए – इस पर मतभिन्नता हो सकती है और यह मतभिन्नता स्वीकार्य होगी। उदाहरण के लिए यदि इंद्रियों के संकेतों के अतिरिक्त अनुभूति के प्रमाण प्रस्तुत किये जाएँ तो ऐसे प्रमाण कुछ हिन्दुओं के लिए मान्य होंगे तथा कुछ के लिए अमान्य। अनुभूति के प्रमाणों को अस्वीकार करने के कारण ही ऐसे हिन्दू भी थे और हैं जिन्होंने भगवान के अस्तित्व को नकार दिया। नास्तिकों को स्वीकार करने वाला हिन्दू धर्म विश्व में संभवतः एकमात्र प्रमुख धर्म है। इतिहास साक्षी है कि कई अन्य धर्मों में तो नास्तिकों को मृत्युदंड दिया जाता था।

हिन्दू की सत्य के प्रति प्रतिबद्धता को अन्य धर्मावलंबियों की तुलना में देखना आवश्यक है। एक ईसाई के लिए बाइबल में लिखा प्रत्येक शब्द परम सत्य है। यदि किन्हीं प्रमाणों से कोई व्यक्ति बाइबल में लिखे किसी बात को असत्य सिद्ध करने का प्रयास करता है तो चर्च के राज में वह ईशनिन्दा का दोषी होने के कारण मृत्युदण्ड का पात्र होगा। शायद बाइबल में कहीं लिखा है कि स्त्री की अपेक्षा पुरुष की अधिक पसलियाँ एवं दाँत होते हैं। सैकड़ों वर्षों तक ईसाई साम्राज्यों में कोई पुरुष एवं स्त्री की पसलियाँ एवं दाँत नहीं गिन सकता था क्योंकि ऐसा करने से बाइबिल में लिखी बात के असत्य होने का डर था और वह एक गंभीर धार्मिक अपराध होता। एक पुस्तक पर आधारित प्रत्येक धर्म में लगभग यही स्थिति होती है। चाहे इस्लाम हो चाहे क्रिश्चियैनिटी – इन सभी धर्मों ने कभी ना कभी विज्ञान का विरोध किया है। हिन्दू धर्म ने कभी भी विज्ञान का विरोध न तो किया है और न ही कर सकता है। हिन्दू की सत्य के प्रति प्रतिबद्धता के कारण ही प्राचीन भारत में ज्ञान-विज्ञान का विकास हुआ था। ज्ञान-विज्ञान की ज्योति के कारण ही हिन्दू आभारत हुआ तथा जहाँ तक इस ज्ञान के प्रकाश की नियमित वर्षा होती थी, वह भूभाग भारतवर्ष कहलाया।

शिवम् – सत्यम् शिवम् सुन्दरम् का दूसरा शब्द है शिव जिसका अर्थ है जगत् कल्याण। मनुष्य के प्रत्येक आचार-विचार, कार्य का मूल्यांकन जगत् कल्याण की कसौटी पर होना चाहिए। यदि किसी व्यक्ति का कोई कार्य सत्य पर आधारित तो है परन्तु उससे जगत् कल्याण को हानि होती है तो वह कार्य धर्म के अनुरूप नहीं माना जाएगा एवं उस कार्य की भर्त्सना भी की जाएगी तथा कर्ता को दण्ड

देना भी उचित होगा। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति के हृदय में जाग्रत कोई तीव्र इच्छा सत्य है किन्तु यदि उस इच्छा की पूर्ति से जगत कल्याण को हानि होती है तो उस इच्छा की पूर्ति की अनुमति नहीं दी जा सकती।

स्पष्ट है कि जिस प्रकार सत्य के बारे में मतभिन्नता हो सकती है, उसी प्रकार कल्याणकारी कार्यों, आचार-विचार इत्यादि के बारे में भी मान्यताएँ भिन्न हो सकती हैं। व्यक्ति की प्रकृति एवं स्वभाव तथा देश-काल की परिस्थितियों में अंतर आने के कारण भी कल्याण संबंधी मान्यताओं में भिन्नता आना स्वाभाविक है, जिसके कारण ही हिन्दू धर्म प्रत्येक व्यक्ति तथा वर्ग के लिए अलग बन जाता है। कल्याणकारिता के संबंध में किसी भी मतभेद एवं विवाद में यदि दोनों पक्ष जगत कल्याण के प्रति प्रतिबद्ध हैं तो दोनों हिन्दू हैं तथा उनके मतभेदों को स्वीकार कर लिया जाएगा। किन्तु यदि एक पक्ष जगत कल्याण का तर्क देने के स्थान पर किसी पुस्तक विशेष का उद्धरण दे अपनी प्रतिबद्धता जगत कल्याण के स्थान पर उस पुस्तक के प्रति व्यक्त करे तो वह हिन्दू नहीं है।

देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार शिव अर्थात् जगत कल्याण का निर्धारण करने की अवधारणा हिन्दू मानस में बहुत गहरे बैठी हुई है। अनेक अवसरों पर आधुनिक भारत में भी यह दिखाई देती है। सम्पूर्ण विश्व में भारत उन गिने-चुने देशों में से है जिन्होंने सबसे पहले गर्भपात को वैधानिक तथा सामाजिक मान्यता दी। यह इसलिए संभव हुआ क्योंकि बहुसंख्यक वर्ग (हिन्दू) ने वैधानिक गर्भपात के लाभ के बारे में विचार करते समय किसी पूर्वाग्रह का परिचय नहीं दिया। महिलाओं को मतदान का अधिकार देने के विषय पर भी कोई विवाद नहीं हुआ। इन सब विषयों पर हिन्दू समाज ने गुण-दोष के आधार पर विचार किया न कि सैकड़ों वर्ष पुराने ग्रंथों के आधार पर।

व्यक्ति की प्रकृति एवं स्वभाव तथा देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार विरोधी एवं विपरीत मान्यताओं को स्वीकृति देने के उदाहरण तो अनगिनत हैं। कुछ हिन्दू विशुद्ध शाकाहारी हैं तो कुछ पूजा में भी माँस का प्रयोग करते हैं। कुछ नवरात्रि के समय उपवास करते हैं तो कुछ अन्य इन नौ दिनों में प्रतिदिन माँसाहार करते हैं तथा देवी को भी माँस का भोग कराते हैं। यदि ध्यान से देखा जाए तो इन सब के पीछे किसी काल में उस क्षेत्र विशेष की विशेष परिस्थितियों के कारण तत्कालीन जगत कल्याण अर्थात् शिव के तर्क समझ में आते हैं।

सुन्दरम् – सत्य एवं शिव के साथ जुड़ा तीसरा आयाम है सुन्दर जिसका शाब्दिक अर्थ है अंतःकरण अर्थात् मन का 'सु' भाव। ऐसी प्रत्येक वस्तु, कार्य या वातावरण जिससे मानव के हृदय में सु-भाव जाग्रत हो वह सुंदर है। अंतःकरण के सु-भाव को परिभाषित करना अत्यन्त कठिन है तथा प्रत्येक व्यक्ति की इस विषय में भिन्न धारणा होना स्वाभाविक है। समस्त कलाओं का उद्देश्य मनुष्य के मन में सुंदर भावों को जाग्रत करना होता है। इसीलिए हिन्दू सभी कलाओं को स्वीकार करता है तथा यह भी मानता है कि इस संबंध में व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए।

यह साधारणतः अत्यन्त विचित्र लगता है कि सुंदर जैसे सहज भाव को हिन्दुत्व के मूलाधार में स्थान दिया गया है। परन्तु जब इसी विषय के सम्बन्ध में हम अन्य धर्मों का मत देखते हैं तो एक चौंकाने वाला अंतर दिखाई देता है। इस्लाम चित्रकला तथा मूर्तिकला को लगभग पूर्णतः वर्जित करता है तथा संगीत को भी अच्छा नहीं मानता। ईसाई चर्चों ने भी मध्ययुगीन काल में विभिन्न कलाओं पर भाँति-भाँति के प्रतिबन्ध लगाए। सहस्रों वर्षों के अपने इतिहास में हिन्दू धर्म में ऐसा कोई उदाहरण कभी नहीं मिलता।

सत्यम् शिवम् सुन्दरम् के तीन पहलू निस्संदेह हिन्दू धर्म को समग्र रूप से परिभाषित करते हैं। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इन तीनों में से कौन सा अधिक महत्वपूर्ण है एवं यदि तीनों में किसी

प्रकार का विरोध हो तो किसे वरीयता दी जाए। इस पर कई मत हैं परन्तु एक प्रमुख मत यह है कि इन तीनों में विरोध सतही तौर पर तो संभव है पर गहराई से देखने पर तीनों एक ही हैं अतः विरोध असंभव है। इस मत के अनुसार सत्यम् शिवम् सुन्दरम् के सूत्र का अर्थ ही यह है कि सत्य ही शिव है और शिव ही सुन्दर है। यह अवश्य संभव है कि एक व्यक्ति अपने जीवन में तीनों को समुचित स्थान देते हुए भी किसी एक पहलू को अधिक महत्त्व दे। उदाहरण के लिए एक कलाकार सुन्दर को अधिक महत्त्व देगा और एक वैज्ञानिक सत्य को। दोनों एक ही समाज के अंग हैं तथा इस तरह के विभिन्न प्रकृतियों के व्यक्ति मिलकर एक ऐसे संतुलित समाज की रचना करते हैं, जिसमें सत्य, शिव एवं सुन्दर तीनों को समुचित स्थान प्राप्त हो।

सत्यम् शिवम् सुन्दरम् को ही दूसरे शब्दों में विज्ञान, नीति तथा कला कहा जा सकता है। भौगोलिक स्थिति, राष्ट्रीय प्रतिबद्धताएँ, पूजा पद्धति, खान-पान, भाषा इत्यादि में भिन्नता के बावजूद इन तीनों को स्वीकारने वाला प्रत्येक व्यक्ति हिन्दू है। इस प्रकार परिभाषित करने के बाद हिन्दू धर्म का वैश्विक स्वरूप स्पष्ट होता है। हिन्दू धर्म अपनी प्राचीन जड़ों से शक्ति ग्रहण करते हुए आधुनिक वैज्ञानिक युग का मानवीय मूल्यों पर आधारित अर्वाचीन विश्व धर्म बन जाता है, जो अपनी निरन्तर परिवर्तनशीलता के कारण सदा नवीन बना रहता है। लेकिन सबसे बड़ा आश्चर्य तो तब होता है जब हम हिन्दू धर्म के इन मूल सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में प्रभु यीशू मसीह को समझने का प्रयास करते हैं।

यदि हम प्रभु जीसस क्राइस्ट के उपदेशों को उनके अनुयायियों द्वारा जोड़ी सब बातों तथा ओल्ड टेस्टामेन्ट से अलग कर के अध्ययन करें, तो यीशू मसीह और अनेक हिन्दू संतों (उदाहरण शिर्डी के साई बाबा) में कोई विशेष अंतर दिखाई नहीं देता। सच तो यह है कि प्रभु जीसस क्राइस्ट ने न तो चर्च की स्थापना की थी और न ही बाइबल की रचना की थी। यह कहना गलत प्रतीत नहीं होता कि प्रभु जीसस क्राइस्ट हिन्दू थे।

जिस प्रकार यीशू के अनुयायियों एवं चर्च ने उनके उपदेशों को विकृत किया तथा उनका दुरुपयोग किया, ठीक उसी प्रकार हिन्दू धर्म को भी संकुचित एवं संकीर्ण करने के कई प्रयास हो रहे हैं। आज हिन्दू धर्म के सामने एक बड़ा खतरा चर्चीकरण का है। पिछले कुछ वर्षों में हिन्दू धर्म के ऐसे स्वघोषित रक्षक उभर आए हैं जो हिन्दू धर्म को बिल्कुल नहीं समझते। वे अपनी सीमित बुद्धि के अनुसार धर्म की व्याख्या कर रहे हैं और अपनी गलत व्याख्याओं को सही एवं अधिकृत घोषित कर उनके आधार पर फतवे जारी कर रहे हैं। जिस धर्म में आपद्काल में मानव माँस के भक्षण की भी अनुमति है, जिस धर्म में भीम भरी सभा में अपने भाई के छाती का लहू पीने की घोषणा करता है और जिस धर्म में द्रौपदी अपने देवर के लहू से अपने बाल धोने की प्रतिज्ञा करती है – उस धर्म का मूलाधार आज धर्म के कतिपय ठेकेदार अहिंसा तथा शाकाहार बता रहे हैं। हिन्दू धर्म के ये अज्ञानी स्वघोषित रक्षक हिन्दू धर्म को बहुत बड़ी हानि पहुँचा सकते हैं। यहाँ यह याद कर लेना उपयुक्त होगा कि यूरोप के अंधयुग के लिए प्रभु यीशू मसीह का कोई उपदेश कतई जिम्मेदार नहीं था।

यूरोपीय रेनेसा (पुनर्जागरण), जिसने यूरोप को अंधयुग से बाहर निकाला, चर्च के लौह बंधनों से मुक्ति का प्रयास था। वह चर्च के विरुद्ध विद्रोह था, प्रभु यीशू मसीह के विरुद्ध नहीं। पिछली चार-पाँच शताब्दियों में यूरोपीय (तथा अमरीकी) जीवन में चर्च का प्रभाव लगातार कम होता गया है। आज एक आम ईसाई अपने जीवन से सम्बन्धित सभी निर्णय अपने विवेक और बुद्धि के आधार पर करता है। यह भी कहा जा सकता है कि एक ईसाई का जीवन अब अधिकाधिक रूप में सत्यम् शिवम् सुन्दरम् से संचालित होता है, चाहे वह स्वयं इसे स्वीकार करे या न करे। पर्यावरण तथा ईकॉलॉजी के प्रति बढ़ती चेतना एवं प्रकृति के अनुसार जीवनयापन के प्रयासों को ब्रम्हांड से एकीकरण के प्रयास के रूप में देखा जा सकता है जो कि हिन्दू धर्म का मूलाधार है।

पूरे विश्व में वैज्ञानिक तर्क तथा मानवीय मूल्यों के आधार पर जीवन के संचालन के समस्त आधुनिक प्रयास वास्तव में हिन्दू धर्म की ओर बढ़ते कदम हैं। अब समय आ गया है कि हिन्दू इतिहास की इस बदलती करवट को समझें और इस में अपनी ऐतिहासिक भूमिका को निभाने के लिए तैयार हो जाएँ ताकि आगामी सदी में सत्यम् शिवम् सुन्दरम् के आधार पर विश्व में एक नयी व्यवस्था का उदय हो सके।

२ अक्टूबर, २०००

२ सामाजिक चेतना, धन और कृष्ण

इन्द्रप्रस्थ में पांडवों को बसाने के बाद कृष्ण जब द्वारका लौटे तो उन्हें एक विचित्र स्थिति का सामना करना पड़ा। इन्द्रप्रस्थ की स्थापना हेतु यादवों ने अपनी सम्पत्ति का पाँचवा हिस्सा देने की घोषणा की थी और तदानुसार स्वर्ण, अश्व, गायें इत्यादि इन्द्रप्रस्थ पहुँचा दी गयी थी। किन्तु इस विषय पर द्वारका के यादवों में मतभेद उभर आये थे। कृष्ण और बलराम का मानना था कि इन्द्रप्रस्थ की स्थापना से धर्म की शक्ति बढ़ेगी जिससे अंततोगत्वा यादवों को लाभ मिलेगा ही, अतः यादवों को दिल खोलकर इस हेतु सहयोग करना चाहिए। अधिकतर यादव सरदार कृष्ण और बलराम के तर्क से सहमत थे। किन्तु सत्राजित नामक एक अत्यंत धनी यादव सरदार और उसके समर्थक इस तर्क से बिल्कुल सहमत नहीं थे।

सत्राजित के बारे में प्रसिद्ध था कि उसे भगवान सूर्य की विशेष सिद्धि प्राप्त थी। उसके पास स्यमन्तक नामक एक विशालकाय मणि था जिसके बारे में कहा जाता था कि वह मणि भगवान सूर्य ने उसे दिया था। सत्राजित के पास विशाल स्वर्ण भंडार थे और उसके स्वर्ण भंडार में लगातार वृद्धि हो रही थी। सत्राजित ने धन के प्रभाव से कई यादव सरदारों को अपने वश में कर लिया था और उसकी योजना यादवों का सर्वोपरि बनने की थी। सत्राजित कहता था कि कृष्ण और बलराम यादवों को सर्वनाश के पथ पर ले जा रहे हैं। उसका कहना था कि कृष्ण धर्म की स्थापना और धर्म को सुदृढ़ करने की जो बात करते हैं, वह एक ढकोसला और धोखा है। धर्म का नाम लेकर ये वासुदेव बंधु अपनी कीर्ति स्थापित करने का प्रयास कर रहे हैं और इस व्यक्तिगत लक्ष्य हेतु यादवों की मेहनत की कमाई को बिना सोचे समझे स्वाहा कर रहे हैं। सत्राजित ने अपने समर्थक यादव सरदारों को भड़काया कि उनकी सम्पत्ति उनके व्यक्तिगत परिश्रम और पौरुष का प्रतिफल है अतः किसी को भी यह अधिकार नहीं है कि वह इसका कोई अंश किसी उद्देश्य हेतु उनसे छीन ले। सत्राजित के इस तर्क से अधिकांश यादव सहमत नहीं थे लेकिन कई यादवों ने इस तर्क को स्वीकार कर इन्द्रप्रस्थ हेतु अपनी सम्पत्ति का न्यूनतम अंश भी देने से इंकार कर दिया।

यादवों की बात झूठी न हो जाए और कृष्ण की प्रतिष्ठा को कायम रखने के लिए कई यादव प्रमुखों ने अपनी समस्त सम्पत्ति दे दी। इसका परिणाम यह हुआ कि कृष्ण और उनके परिवार से जुड़े सभी यादव परिवार अत्यंत गरीब हो गये और दूसरी ओर सत्राजित से जुड़े परिवार पूर्व की भाँति सम्पन्न रहे। सम्पन्नता और विपन्नता की इस खाई ने पूरे यादव समाज को दो भागों में बाँट दिया। सत्राजित खुले आम कृष्ण का मजाक उड़ाने लगा और कृष्ण में श्रद्धा रखने वालों की विपन्नता को उनकी मूर्खता का परिणाम बताया जाने लगा।

इस प्रकार की विडम्बना पूर्ण स्थिति आज के युग में भी कई बार दिखाई देती है। सामाजिक चेतना रखने वाले, समाज के हित हेतु अपना सर्वस्व न्यौछावर करने वाले, त्याग और बलिदान करने वाले गरीबी से जूझते दिखाई देते हैं जबकि समाज को हानि पहुँचाने वाले तथा अपने सुख को सर्वोपरि मानने वाले स्वर्णपात्र में सुरापान करते हुए दिखते हैं। यह स्थिति निश्चय ही समाज के लिए त्याग और बलिदान करने वाले के लिए विचलित करने वाली होती है। उसे प्रतीत होता है कि जिस समाज के प्रति चेतना के वशीभूत होकर उसने अपना सर्वस्व त्याग दिया है, वह तो अन्याय पर आधारित है। उसके मन में भी विचार उठता है कि क्यों ना अपनी चेतना के समस्त सद्भावों को तिलांजलि देकर स्वर्णपात्र में सुरापान किया जाए।

कृष्ण जब इन्द्रप्रस्थ से लौटे तो द्वारका की स्थिति उन्हें अपने स्वागत हेतु एकत्र महिलाओं को देखकर ही स्पष्ट हो गयी। सत्राजित की पुत्री सत्यभामा स्वर्णालंकारों से सुसज्जित और स्वर्ण कलश लिए थी जबकि रुक्मिणि आर शैव्या जो कृष्ण की पत्नियाँ थीं आभूषणविहीन थीं और ताम्रकलश लिए थीं। राजसभा में तो यह बात उभर कर सामने आ गयी थी। सत्राजित ने राजसभा में कृष्ण का उपहास किया परन्तु कृष्ण ने धर्म की विस्तृत विवेचना की। उन्होंने समझाया कि पूरे आर्यावर्त में यादवों को धर्म के निर्माता के रूप में गौरव मिला है जिससे यादव और अधिक सशक्त हुए हैं। सत्राजित ने कृष्ण की बात को मानने से इंकार कर दिया।

धन और अहंकार के नशे में चूर सत्राजित ने कृष्ण से शत्रुता पाल ली। कृष्ण चाहते थे कि सत्राजित स्यमन्तक मणि राजखजाने में जमा कर दे ताकि प्रतीकात्मक रूप से उसके अंशदान की पूर्ति हो जाए। सत्राजित ने अपने भाई के हाथ स्यमन्तक मणि को वन में भिजवा दिया तथा कृष्ण पर मणि की चोरी का आरोप लगाया। कृष्ण ने अपने को निर्दोष सिद्ध करने का प्रण लिया अन्यथा मृत्यु को वरण करने की घोषणा की। वन में सत्राजित का भाई एक सिंह के हाथों मारा गया। सत्राजित की पुत्री सत्यभामा बाल्यकाल से ही कृष्ण को प्रेम करती थी। उसे अपने पिता की करतूत का पता चला तो वह वन में अपने चाचा का पीछा करने गयी। एक अत्यंत कठिन समय और उलझे हुये घटनाचक्र के बाद कृष्ण वन से सत्यभामा और स्यमन्तक को वापिस लाने में सफल हुए। सत्राजित का अहं चूर-चूर हो गया।

कहा जाता है कि धर्म की विजय होती है और उक्त प्रसंग में भी अंततः धर्म की विजय हुई। हमारे देश में धर्म को कुछ लोगों ने मंदिर, साधु-संत, जनेऊ, पूजा-पाठ, शाकाहार इत्यादि का ठेकेदार बना दिया है। कृष्ण के लिए धर्म सामाजिक चेतना का ही दूसरा नाम था। कृष्ण ने इंद्र पूजा का विरोध किया, भय और लोभ आधारित समस्त पूजा पाठ का विरोध किया तथा समाज एवं उसको सम्पन्नता देने वाले समस्त अवयवों को पूजनीय माना। सामाजिक चेतना के पुरोधा कृष्ण को हमने रसिया बना दिया। गोवर्धनधारी, सुदर्शन चक्र धारी, सारंग नामक धनुष धारी, महायोद्धा, नीतिज्ञ, धर्मज्ञ कृष्ण को हमने मुरलीधर रणछोड़दास कहा। हमने अपने मंदिरों में कृष्ण को ही नहीं, धर्म को भी कैद कर दिया। मठाधीशों के फूलते पेट तथा शंकराचार्यों के आडंबरपूर्ण स्वर्णजटित सिंहासनों के नीचे धर्म कराहता रहा और हम जन्माष्टमी पर कृष्ण को झूले झुलाते रहे।

कृष्ण के जीवन को समझना अपने जीवन में सामाजिक चेतना को सर्वोच्च स्थान देना है। सत्राजित की तरह धन को व्यक्तिगत उपभोग की वस्तु मानने वाले, चाहे कितना ही मंदिरों में नाक रगड़ लें, चाहे सुबह – शाम भजन गाते रहें, – ना तो कृष्ण को पा सकते हैं और ना ही धर्म से मिलने वाले सुख को।

आज आवश्यकता है कि हम सामाजिक चेतना और समाज के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने के भाव को ही कृष्णभक्ति मानें। धन को व्यक्तिगत उपलब्धि का मापदंड और मात्र व्यक्तिगत उपभोग की वस्तु मानना हमारे समाज के बहुत से दुर्गुणों का कारण है। सत्राजित की विचारधारा की अंतिम परिणति तो तब होती है जब व्यक्ति का धन उसके परिवार का भी नहीं रहता, पिता का धन पुत्र का नहीं होता, पति का धन पत्नी का नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में समाज के लिए कुछ त्यागने की मानसिकता उपहास का पात्र बनती है। यह नवधनाढियों की वो संस्कृति है जिसमें चमचमाती कार से आधा दर्जन व्यक्तियों को रौंदने के बाद कार पर लगे दाग-धब्बों की चिंता होती है न कि व्यक्तियों की, जिसमें बीना रमानी जैसी सफेदपोश अपने परिवार की घनिष्ठ मित्र को गोली लगने पर भी चिकित्सक इत्यादि की चिंता बाद में करती है और काउन्टर की सफाई पहले करती है। ऐसे में सत्राजित विजयी होता है और कृष्ण हार जाता है।

पर सत्य तो यह है कि ना तो कृष्ण कभी हारता है और ना ही सामाजिक चेतना के रूप में स्थापित धर्म। उपभोग और उपलब्धि की वस्तु के रूप में धन का उपयोग करने वाला अपने विनाश का मार्ग प्रशस्त करता है। सामाजिक चेतना के साथ समाज की प्रगति और विकास के लिए जिस धन का उपयोग होता है वही सर्वत्र सुख प्रदान करता है और व्यक्ति एवं समाज को विजयी बनाता है।

अक्तूबर १९६८

३ पशुपालन का अर्थशास्त्र और श्रीमद्भगवद्गीता

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मतस्य च ।
तस्मादपरिहार्ये र्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥
(द्वितीयो ध्यायः श्रीमद्भगवद्गीता)

चूँकि जिसका जन्म होता है उसका मरण निश्चित है और जो मर गया है उसका जन्म ग्रहण करना निश्चित है, इसलिए इस अपरिहार्य विषय में (मृत्यु के विषय में) तुझे शोक करना उचित नहीं है।

भगवान कृष्ण कहते हैं कि जीवों की मृत्यु के विषय में शोक करना अनुचित है क्योंकि मृत्यु तो वस्त्र परिवर्तन के समान है। जीवन पर ध्यान केन्द्रित करना और मृत्यु को जीवन का एक आवश्यक पहलू मानना – गीता का ऐसा सार है जो मानव जीवन के हर पक्ष पर लागू होता है। यह कृष्ण के इस जीवन दर्शन का ही परिणाम था कि कृष्ण एक ओर तो समस्त पशुओं के मित्र थे और दूसरी ओर एक कुशल शिकारी भी थे। कृष्ण के जीवन दर्शन को समझे बिना तो पशु पालन शायद संभव ही नहीं है।

पशु पालन के क्षेत्र में रक्षण और भक्षण एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। भक्षक ही रक्षक होता है और जो भक्षक नहीं होता वह रक्षक भी नहीं होता। ईद-उल-जुहा पर मुसलमान कुर्बानी देते हैं और बकरे का माँस खाते हैं। पर इसके लिए या तो वे साल भर तक बकरे को पालते हैं या फिर बकरा पालने वाले को एक मोटी रकम देकर पालन की जिम्मेदारी का निर्वहन करते हैं। जैन, जो माँस नहीं खाते, बकरा पालते भी नहीं हैं। बकरे का माँस सबसे अधिक भारत में खाया जाता है और पूरे विश्व में सबसे अधिक बकरियाँ भारत में ही हैं। पिछले तीस सालों में भारत में अण्डे एवं मुर्गे की खपत में लगभग दस गुना वृद्धि हुई है और इसी कारण मुर्गीपालन में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है और मुर्गियों की कुल संख्या बड़ी है। यह कहना गलत नहीं होगा कि यदि मानव जाति अंडे और मुर्गा खाना पूर्णतः बंद कर दे तो शायद पृथ्वी पर मुर्गी की नस्ल ही लुप्तप्राय हो जाए।

सनातन धर्म को समझने वालों ने इस सनातन सत्य को समझा। इसी कारण शिव जिन्हे संहार का देवता माना जाता है, उन्हें पशुपतिनाथ भी कहा गया है। शिव परिवार तो जीवः जीवस्य भोजनम का जीता जागता उदाहरण है। शिव का वाहन बैल है तो पार्वती का वाहन शेर है जो बैल को मार कर अपनी भूख मिटाता है। गणेश का वाहन चूहा है तो भोलेनाथ के गले में साँप शोभायमान रहता है। साँप चूहे को मार कर अपनी क्षुधाशांति करता है तो दूसरी ओर साँप को मोर खाता है जो कि कार्तिक का वाहन है। प्रकृति का चक्र इसी प्रकार की पारस्परिक निर्भरता और अंकुश पर आधारित है। जो इस चक्र को समझता है और मृत्यु से विचलित नहीं होता वही ज्ञानी है। वह मृत्यु को सहज रूप से स्वीकार जीवन के प्रति प्रतिबद्ध हो कार्य करता है। मृत्यु से बचना या मृत्यु से डरना या मृत्यु पर शोक अथवा चिंता करना धर्म नहीं है। जीवन ही धर्म है। हिंसा और अहिंसा में से यदि अहिंसा मृत्यु से विचलित हो जीवन को कमजोर करती है और हिंसा मृत्यु को स्वीकार कर जीवन को सशक्त करती है तो हिंसा धर्म है तथा अहिंसा अधर्म है। यही गीता का उपदेश है और यही समाज के उत्थान का मार्ग है।

भारत में गाय की पूजा होती है और पाकिस्तान में नहीं होती। भारत में मरने वाले गाय/बैल का औसत वजन १०३ किलोग्राम होता है और पाकिस्तान में होता है १८५ किलोग्राम। यही औसत अमरीका और जर्मनी में लगभग ३१५ किलोग्राम है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो भारत में गाय काटी नहीं जाती ,

भूख-प्यास से तड़पा-तड़पा कर तिल-तिल मारी जाती है। धर्म की अज्ञानपूर्ण व्याख्या के कारण हम गोवध नहीं करते जिसके कारण हम अपने गोधन का न तो संरक्षण करते हैं न समुचित पालन-पोषण। गाय की मृत्यु को स्वीकार करने में संकोच के कारण हमने गाय के जीवन को नर्क बना दिया है। सडक पर लावारिस की तरह घूमती गाय प्लास्टिक की पन्नी खा कर मरने को विवश है। हमारी अहिंसा और दया सुसज्जित मंचों पर एवं भाषणों में सुशोभित होती हैं, पर गाय को जीवन के समुचित अवयव उपलब्ध नहीं करा सकती।

भारत में पिछले तीन दशकों में दूध उत्पादन बहुत अधिक बढ़ा है। आपरेशन फ्लड, एन.डी.डी.बी. और कुरियन साहब के समस्त प्रयासों के बावजूद १९६७ में भारत में दूध की प्रति व्यक्ति उपलब्धता मात्र ५८.५ किलोग्राम प्रति वर्ष थी। पाकिस्तान में यह ११६.३ किलोग्राम प्रति वर्ष थी, जर्मनी में २३८.८ कि.ग्रा. प्रति वर्ष थी, रूस में १४५.१ कि.ग्रा. प्रति वर्ष थी तथा अमरीका में २५१.३ कि.ग्रा. प्रति वर्ष थी। कुछ लोगों को इस बात पर आश्चर्य हो सकता है कि भारत में दूध की प्रति व्यक्ति उपलब्धता पाकिस्तान के मुकाबले आधी है जबकि आर्थिक रूप से पाकिस्तान भारत से सम्पन्न कतई नहीं है। यांत्रिक कत्लखानों और गोवध का विरोध करने वाले सदा यह दलील देते हैं कि यदि निर्बाध गति से गोवंश की हत्या होती रही तो भारत से गोवंश समाप्त हो जाएगा और दूध के लिए त्राहि-त्राहि मच जाएगी। सच तो यह है कि कि जिन देशों में गोमांस का भरपूर सेवन होता है, उन देशों में दूध की भी भरपूर उपलब्धता है।

पशुपालन का अर्थशास्त्र माँस और दूध दोनों पर आधारित होता है। गाय या भैंस जब भी जनती है तो बछिया अथवा बछड़ा पैदा होने की संभावना लगभग बराबर होती है। पशुपालक मादा को दूध की अपेक्षा से पालता है और नर को या तो माँस के लिए या फिर बैलगाड़ी अथवा हल में जोतने के लिए। दूध, माँस तथा जोतने की उपयोगिता के सम्मिलित गणित से पशुपालन में समुचित आर्थिक निवेश सम्भव हो पाता है। इन तीनों में से एक को भी कमजोर करने से पशुपालन साधारणतः लड़खड़ा जाता है। विदेशों में जोतने की उपयोगिता नहीं होती पर वहाँ माँस की कीमत से आर्थिक समीकरण ठीक हो जाते हैं। प्राचीन भारत में नर पशु की जोतने की उपयोगिता अत्याधिक होने के कारण माँस का उपयोग किये बिना भी पशुपालन संभव था। आधुनिक भारत में हमने एक ओर तो डीजल, ट्रैक्टर, बिजली इत्यादि पर अत्याधिक सबसिडी देकर नर पशु के जोतने संबंधी उपयोग को प्रायः समाप्त कर दिया है, दूसरी ओर माँस के व्यापार पर वर्जनाएँ लगाकर पशुपालक को माँस की समुचित कीमत से वंचित कर दिया है। फलस्वरूप नर पशु पूर्णतः अनुपयोगी हो गया है। इससे डेयरी उद्योग का अर्थशास्त्र लड़खड़ाया है और गोधन का विकास वांछित गति से नहीं हो पा रहा है।

प्रति वर्ष भारत लगभग एक करोड़ टन खली का निर्यात करता है। खली का निर्यात उन देशों को किया जाता है जहाँ पशुपालन एक समृद्ध उद्योग है। भारत के गरीब भूखे पशुओं के मुँह से खींचकर प्रोटीनयुक्त खली पाकिस्तान, ईरान, थाईलैंड, कोरिया, जापान इत्यादि के पशुओं के आहार को पोषक बनाने के लिए भेजी जाती है। इसका एक अन्य पहलू भी है जिस और साधारणतः किसी का ध्यान नहीं जाता – वह है नत्रजन चक्र का टूटना। तिलहन के पौधे हवा की नाइट्रोजन को प्रोटीन में बदलने की अद्भुत क्षमता रखते हैं। यह प्रोटीन जानवरों द्वारा खाया जाता है और तत्पश्चात् इसका एक बड़ा भाग वापिस भूमि में गोबर के रूप में चला जाता है और बाकी दूध व माँस के रूप में मनुष्यों को प्राप्त हो अंततः मल इत्यादि के रूप में भूमि तक पहुँचता है। खली के निर्यात से देश में प्रोटीन की कमी तो होती ही है, साथ ही भूमि तक पहुँचने वाले गोबर की कमी से नत्रजन चक्र टूटता है जिससे भूमि ऊसर होने लगती है। भूमि की उर्वरकता बनाए रखने के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि पशुपालन के आर्थिक पहलू को इतना सशक्त किया जाए कि भारत की खली भारत के पशुओं को खाने को मिल सके।

पशुपालन के अर्थशास्त्र में गोबर की माँग का भी योगदान है। रासायनिक उर्वरकों पर बेतहाशा सबसिडी देने के कारण गोबर की खाद की माँग कम हुई है जिससे पशुपालक के लिए दूध न देने वाली गाय को पालना असंभव हो गया है।

भारत में गोधन के विकास और भारत की कृषि के आर्थिक पक्ष को सुदृढ़ करने के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि पशुपालन के तीनों स्तंभों – दूध, माँस और जुताई हेतु उपयोग – को मजबूत किया जाए। दूध के संबंध में जिस प्रकार राष्ट्रीय डेयरी विकास बोर्ड कार्य कर रहा है, उसी प्रकार का कार्य माँस के क्षेत्र में भी करने की आवश्यकता है। यह लक्ष्य तय किया जाना चाहिए कि अगले पाँच – दस वर्षों में खली निर्यात पूरी तरह समाप्त कर दिया जाएगा ताकि भारतीय प्रोटीन का भारत में ही उपयोग हो। ट्रैक्टर, डीजल, कृषि क्षेत्र के लिए बिजली तथा रासायनिक उर्वरकों पर सबसिडी धीरे-धीरे कम कर पशुधन की उपयोगिता बढ़ाने का प्रयास किया जाना चाहिए। प्रदूषण कम करने की दृष्टि से भी तथा पशुधन के विकास के लिए भी सभी शहरों के कुछ सघन भागों में डीजल तथा पेट्रोल से चलने वाले वाहनों का प्रवेश वर्जित कर केवल पशु एवं मानव चलित वाहनों के प्रवेश की अनुमति दी जानी चाहिए। पशुचलित वाहनों में नवीनतम प्रौद्योगिकी को प्रोत्साहित करना चाहिए।

हिंदू धर्म जीवन को समग्र रूप में देखता है। दया और अहिंसा के नाम पर जीवन को खोखला करने को हिंदू दर्शन धर्म नहीं अधर्म मानता है। अर्जुन के लिए गुरु द्रोण परमपूज्य थे परन्तु गुरु द्रोण भी समाज के व्यापक हितों से बढ़ कर नहीं थे। गाय हमारे लिए पूज्य है और हम गोधन के विकास को अपना परम धर्म मानते हैं। जिस प्रकार धर्म की रक्षा के लिए अर्जुन ने अपने बंधुजनों को मारने के लिए अस्त्र-शस्त्र उठाए, उसी प्रकार गोधन के विकास के लिए गोवध से परहेज त्यागना धर्मानुकूल होगा। गाय, भैंस, बकरी एवं अन्य दुधारू तथा उपयोगी पशुओं के जीवन को समृद्ध बनाने में धर्म है। भारतवर्ष में पशु सम्पदा बढ़े और भारत के पशु विश्व के सबसे स्वस्थ पशु हों – यह कामना करना और इसके लिए प्रयास करना धर्म है। धर्म के मार्ग पर चलने वाले ज्ञानी पुरुष न तो लहू को देख कर विचलित होते हैं और न ही मृत्यु से। क्योंकि वे जानते हैं कि नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।

२५ नवंबर, १९६६

४ भारत - सोने की चिड़िया

कहा जाता है कि किसी जमाने में भारत सोने की चिड़िया था। चिड़िया की नियति बिल्ली के मुंह का निवाला बनना होता है। बिल्ली ललचायी निगाहों से चिड़िया को देखती है। चिड़िया अपनी सुरक्षा के लिए इस डाली से उस डाली फुदकती रहती है, बिल्ली के झपटों से बचने की कोशिश करती रहती है, पर बिल्ली पर आक्रमण करने की बात स्वप्न में भी नहीं सोचती। अंततः बिल्ली अपने इरादों में कामयाब हो चिड़िया को दबोच लेती है। सोने की चिड़िया के रूप में भारत में एक ओर तो सोने का विशाल भंडार था और दूसरी ओर थी चिड़िया के समान सुरक्षा व्यवस्था – स्वाभाविक ही था कि दुष्टात्माओं के मुंह में पानी भर आता। भारत पर बार-बार आक्रमण होने का यही कारण था। पर हम भारतवासी इतिहास से सीखना नहीं जानते। भारत आज भी सोने की चिड़िया है – यह कोई गर्व की बात नहीं है, यह राष्ट्रीय चिन्ता का विषय होना चाहिए।

विश्व स्वर्ण परिषद के अनुसार भारत ने १९६८ में अधिकतम रूप से ६१४ टन और तस्करी के माध्यम से अंदाजन सौ टन सोने का आयात किया। ७१४ टन सोने की कीमत होती है लगभग ६७५ करोड़ डालर या लगभग तीस हजार करोड़ रुपया। १९६८ में पूरी दुनिया की सोने की खदानों में लगभग २५५५ टन सोने का उत्पादन हुआ। इस कुल उत्पादन का अट्ठाईस प्रतिशत एक ऐसे देश ने खरीद लिया जिसके पास पूँजी की कमी है, जो कटोरा लिए कभी पूँजी-निवेश के नाम पर, कभी ऋण के नाम पर भीख माँगता दुनिया के कोने कोने में दिखता है। हमारा स्वर्ण आयात पर खर्च – हमारे कुल आयात का लगभग बीस प्रतिशत है, हमारे देश में हो रहे विदेशी पूँजी निवेश का लगभग १४५ प्रतिशत है, हमारे शिक्षा बजट का लगभग ४२५ प्रतिशत है, हमारे प्रतिरक्षा बजट का लगभग ६३ प्रतिशत है। १९६८ में भारत का सोने का आयात व्यय विदेशों से प्राप्त ऋण, अनुदान एवं निवेश संबंधी शुद्ध आवक के लगभग बराबर था। यह कहना गलत नहीं होगा कि यदि भारत सोने का आयात पूरी तरह बंद कर पाता है तो भारत को न तो किसी प्रकार के पूँजी निवेश की आवश्यकता है और न ही किसी विदेशी ऋण की और न ही किसी विदेशी सहायता की।

पर आर्थिक पहलू के अतिरिक्त सोने का एक और पहलू भी है। सोना रूप अवश्य बदलता रहता है पर उसकी मात्रा में कोई विशेष कमी नहीं आती। इसके परिणामस्वरूप यदि भारत में पचास वर्ष पूर्व दस टन सोना लाया गया था, तो आज भी वह दस टन (या साढ़े नौ टन) सोना किसी न किसी रूप में भारत के किसी ना किसी गाँव या शहर के परिवारों अथवा बैंकों में मौजूद होगा। यदि यह मान लिया जाए कि स्वतंत्रता के पूर्व भारत में सोने का आयात शून्य था और स्वर्ण आयात एक नियमित गति से बढ़ते हुए इस स्तर तक पहुँचा है तो पिछले बावन वर्षों में भारत ने लगभग बीस हजार टन सोने का आयात किया है। एक मोटे अंदाज के लिए यह माना जा सकता है कि १९४७ में भारत की जनता, बैंकों और सरकार के पास कुल पाँच हजार टन का स्वर्ण भंडार था। यदि उपरोक्त दोनों संख्याओं को जोड़ दें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत के पास लगभग पच्चीस हजार टन सोना है। यह कितना विशाल स्वर्ण भंडार है, इसका अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि पूरी दुनिया के सभी देशों की सरकारों के पास कुल मिला कर मात्र पैंतीस हजार टन सोना है।

लगातार बढ़ते विशालतम स्वर्ण भंडार के साथ जुड़ी समस्या सुरक्षा की है। व्यक्तिगत स्तर पर घर में सोना रखने वाले व्यक्ति को असुरक्षा की भावना सताती है तो वह उसे बैंक में रख देता है। निश्चय ही छोटे चोर-उच्चकों से बैंक सुरक्षा प्रदान कर सकते हैं। पर राष्ट्रीय एवं सामूहिक स्तर पर स्वर्ण भंडार

की सुरक्षा बैंक कतई नहीं कर सकते। कल्पना करें कि दस लाख की आबादी वाले एक शहर पर शत्रु का कब्जा हो जाता है। शत्रु की इच्छा लूटमार कर अधिकाधिक धन इत्यादि अपने देश ले जाने की है। लुटेरा न तो घरों का फर्नीचर उठा कर ले जाना चाहेगा, न ही रसोई के भांडे-बर्तन, न ही मुद्रा के रूप में प्रचलित कागज के टुकड़े और न ही फ्रिज, टीवी इत्यादि। लुटेरे के लिए सोना लूटना भी आसान है और लूट कर अपने देश ले जाना भी। यदि पूरे शहर का सोना चंद बैंकों में ही बंद है तो इससे लुटेरे का कार्य आसान ही होगा। भारत का इतिहास इस प्रकार की घटनाओं का साक्षी रहा है।

विश्व के किसी भी अन्य देश में लूटमार करने वाले आक्रमणकारी को इस प्रकार का स्वर्ण भंडार नहीं मिलेगा। यूरोप अथवा अमरीका के किसी देश में लूटमार करने वाले को फर्नीचर, टीवी, फ्रिज, कालीन इत्यादि तो खूब मिलेंगे पर सोना नगण्य ही मिलेगा। किसी भी लुटेरे के लिए सौ टन सोना उठा कर ले जाना अत्यंत आसान है और हजारों कुर्सी मेज फ्रिज इत्यादि ले जाना लगभग असंभव।

कहते हैं जहाँ गुड़ होता है, वहाँ मक्खी भी आती है। भारत के पड़ोस में जिस मध्ययुगीन संस्कृति ने आक्रांताओं को सैकड़ों वर्ष पूर्व जन्म दिया था, आज वही मध्ययुगीन संस्कृति पुनः उसी क्षेत्र में सिर उठा रही है। अफगानिस्तान और मध्य एशिया में जिस कबीलियाई व्यवस्था की जड़ें मजबूत हो रही हैं, वह भारत के लिए खतरे की घंटी है। तालिबान और अन्य गुटों की लड़ाई के कारण अफगानिस्तान की अर्थव्यवस्था चौपट हो गयी है। तालिबान ने अफगानिस्तान में जिस व्यवस्था को अपनाया है, वह इतनी क्रूर और हृदयहीन है कि उसमें रचनात्मकता, ज्ञानशीलता, अध्ययन, अध्यापन इत्यादि के लिए कोई स्थान नहीं है। ऐसे वातावरण में न तो उद्योग पनप सकता है, न ही कृषि। सभ्य समाज के सभी अवयवों को घृणा की दृष्टि से देखने वाले तालिबान द्वारा निर्मित वातावरण केवल अपराध और लूटमार की मानसिकता को जन्म देता है। चौपट अर्थव्यवस्था और अपराधिक मनोवृत्ति के कारण पूरा देश और समाज अपराधी बनने में ही गर्व महसूस करने लगता है। पाकिस्तान में उपजा और अफगानिस्तान में फला-फूला तालिबान अब विषबेल बनकर पूरे मध्य एशिया में फैल गया है। नशीले पदार्थों की तस्करी और अन्य अपराधिक कृत्यों से इस विषबेल को पूरे विश्व से पोषण मिल रहा है और यह दिन प्रतिदिन सशक्त एवं अधिक विषैली होती जा रही है। धर्म की आड़ में अपराधिक सत्ता के ध्येय के पीछे भागती इस विषबेल के सदस्यों को न तो लूटमार से परहेज है, न कत्लेआम से, न बलात्कार से।

तालिबान द्वारा और तालिबान की जन्मस्थली, पाकिस्तान, द्वारा समर्थित अनेक गुट खुलेआम भारत से लड़ाई की घोषणा करते हैं, भारत में कत्लेआम मचाने की बात करते हैं तथा भारत में लूटमार करने का स्वप्न देखते हैं। उनके लिए नादिरशाह द्वारा दिल्ली में किया गया वीभत्स कत्लेआम गर्व और प्रेरणा का स्रोत है। पाकिस्तान के समाचार पत्र इन गुटों की भारत विरोधी घोषणाओं से भरे रहते हैं। भारत की जनता और नेता इस सबसे बेखबर नहीं हैं, परन्तु उनकी मानसिकता उस चिड़िया की तरह है जो यह जानती है कि बिल्ली उस पर झपट्टा मारने को तैयार है, पर न तो चिड़िया बाज बन सकती है और न ही शेर। आश्चर्य यह है कि भारत इतिहास को भूल एक और तो मध्य एशिया की हलचलों पर सक्रिय प्रतिक्रिया नहीं करता और दूसरी ओर भारतीय समाज लगातार स्वर्ण संग्रह कर अपराधिक देशों के लिए अधिकाधिक आकर्षक बनता जा रहा है।

यदि हम इतिहास से कुछ सबक सीख सकें, तो हमें दो काम करने चाहिए। पहला कार्य – हम घोषित रूप से मध्य एशिया में पनपती विषबेल को कुचलने के लिए प्रयास करें। तालिबान और इस्लामी आतंकवादी गुटों के सफाये के लिए हमें युद्ध की घोषणा करनी चाहिए और साथ ही यह भी प्रयास करना चाहिए कि यह युद्ध भारत की भूमि पर नहीं लड़ा जाए। यह युद्ध साँप को उसकी बिल में कुचलने का प्रयास होना चाहिए। यह कोई समझदारी नहीं है कि हम इंतजार करें कि साँप हमारे घर

में घुस आये तो हम उसे मारेंगे। विषबेल के विरुद्ध हमें अमरीका, रूस, चीन इत्यादि अनेक देशों का समर्थन मिल सकता है। यहाँ तक कि अनेक इस्लामी देश भी संभवतः इस अभियान में हमारा समर्थन करेंगे। हमें सब का समर्थन लेना चाहिए और इस महाअभियान का केन्द्रबिन्दु बनना चाहिए।

दूसरा कार्य भारत की महिलाओं को करना चाहिए। जब तक हमारी माताएँ-बहनें सोने का मोह नहीं त्याग देती, तब तक हमारा देश न तो सुरक्षित रह सकता है, और न ही प्रगति कर सकता है। इस संबंध में एक व्यापक जन-आंदोलन की आवश्यकता है। स्वदेशी जागरण मंच जैसे संगठन जो विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की बात करते हैं, उन्हें यह समझना और जनता एवं सरकार को समझाना होगा कि सोना पूर्णतः विदेशी है तथा हमारे देश के विकास, सुरक्षा एवं सार्वभौमिकता के मार्ग में विदेशी कंपनियों के साबुन एवं टूथपेस्ट से कहीं बड़ा रोड़ा है। पिछले कुछ वर्षों में सरकार ने स्वर्ण संग्रह को सरल बनाने हेतु जो उपाय किये हैं, उन्हें रोक कर स्वर्ण संग्रह को हतोत्साहित करने हेतु सरकारी स्तर पर भी प्रयास किये जाने चाहिए।

अब वक्त आ गया है कि हम तय करें कि हम इतिहास से शिक्षा ग्रहण कर अगली शताब्दी में महाशक्ति के रूप में उभरेंगे या फिर अपने इतिहास को दोहराते हुए सोने की चिड़िया के रूप में किसी दुष्टात्मा बिल्ली की क्षुधा शांति का माध्यम बनेंगे।

२८ अगस्त, १९६६

५ वाटर, वाराणसी और विश्व के अन्य पवित्र नगर

अधिकतर हिंदुओं के मन में काशी, हरिद्वार और तिरुपति के लिए लगभग वही स्थान है जो ईसाईयों के मन में वैटिकन के लिए है, मुसलमानों के मन में मक्का-मदीना के लिए है और यहूदियों (तथा ईसाईयों) के मन में यरूशलम के लिए है। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि किसी शहर को पवित्र मानना तर्कसंगत नहीं है क्योंकि हर शहर में कुछ अच्छाइयाँ और कुछ बुराईयाँ होती ही हैं। दुनिया का कोई भी पवित्र नगर अपराधों और अनैतिक कृत्यों से पूर्णतः मुक्त नहीं है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी फिल्मकार को वैटिकन या मक्का-मदीना या यरूशलम के स्याह पहलुओं पर फिल्म बनाने की अनुमति मिल जाएगी। इन पवित्र नगरों से लाखों करोड़ों लोगों की भावनाएँ जुड़ी हैं। ये पवित्र नगर कुछ लोगों के निवासस्थान मात्र न होकर जीवित किंवदन्तियाँ हैं। आज की व्यापारिक भाषा में कहें तो ये नगर विश्व के सबसे प्राचीन सुपर-ब्रांड हैं। इन नगरों के काले चेहरे को उजागर करने से करोड़ों लोगों की भावनाएँ आहत होंगी तथा इन नगरों का किंवदन्ती अथवा सुपर-ब्रांड स्वरूप समाप्त होने लगेगा, जिससे अंततोगत्वा ये नगर ही समाप्त हो जाएँगे। स्पष्ट है कि कोई भी पवित्र नगर किसी कलाकार या फिल्मकार को इतिहास की कब्रों में दफन कंकालों को निकालने की अनुमति नहीं दे सकता।

दीपा मेहता की प्रस्तावित फिल्म वाटर वाराणसी के इतिहास का वो भाग है जिसे वाराणसी भुला देना चाहता है। फिल्म की कथा का घटनाक्रम १९३० के काल पर आधारित है। जैसा कि समाचारपत्रों में बताया गया है, यह एक बाल-विधवा के भावनात्मक और यौन शोषण की कथा है। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि तत्कालीन काशी में इस प्रकार की कुछ घटनाएँ घटित हुई होंगी। दीपा मेहता न तो यह कहती हैं कि तत्कालीन काशी में सभी विधवाओं के साथ ऐसा होता था और न ही यह कहती हैं कि उनकी फिल्म आज की वाराणसी का प्रतिबिम्ब है। दीपा मेहता काशी के इतिहास के एक ऐसे काले दाग की बात करना चाह रही हैं जो धीरे-धीरे कम होते हुए लुप्तप्राय हो चुका है।

अपुष्ट अफवाहों का बाजार वैटिकन में अवैध यौन संबंधों के विषय में सदा गर्म रहता है। अभी कुछ सप्ताह पूर्व एक अखबार में खबर छपी थी कि अमरीका में पादरियों के बीच एड्स का प्रतिशत साधारण आबादी के मुकाबले चार गुना अधिक है। पता नहीं यह खबर कितनी सच्ची है और कितनी झूठी, पर इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ईसाई पादरियों में कुछ ऐसे हैं जो जिस प्रकार के उपदेश देते हैं, उससे बहुत भिन्न प्रकार का जीवन जीते हैं। लेकिन इसके कारण किसी फिल्मकार को यह अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता कि वह वैटिकन जाकर पादरियों के बीच समलैंगिक सम्बन्धों के विषय पर फिल्म की शूटिंग करे। इस प्रकार के विषय पर फिल्म निर्माण की भर्त्सना न केवल कैथोलिक ईसाई समुदाय द्वारा की जानी चाहिए अपितु हर विचारशील व्यक्ति द्वारा की जानी चाहिए। अभिव्यक्ति और कला की स्वतंत्रता के नाम पर किसी को भी करोड़ों लोगों की भावनाओं को आहत करने तथा श्रद्धा के केन्द्र बिन्दुओं को ध्वस्त करने की अनुमति नहीं दी जा सकती।

कलाकार समाज सुधारक की भूमिका अदा कर सकता है और उसे यह भूमिका अदा करनी भी चाहिए। किंतु इस संबंध में उसे अत्यंत सावधानी से कदम बढ़ाने चाहिए। उसके इरादे और नीयत शंका से परे, स्पष्ट एवं उदात्त होने चाहिए। समाज सुधार के प्रति उसकी वैचारिक प्रतिबद्धता एवं मानसिक तैयारी पूर्णरूपेण होनी चाहिए। सुधार की प्रक्रिया लंबी होती है और इसी कारण सुधार के उत्प्रेरक की भूमिका निभाने के इच्छुक में धैर्य, दृढ़ता और दूरदृष्टि की आवश्यकता होती है। दीपा मेहता, स्वयं के

कथनानुसार, मात्र एक फिल्मकार हैं, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। उनकी प्रस्तावित फिल्म का कथानक एक ऐसे विषय से सम्बंधित है जो इतिहास के कब्रिस्तान से खोद कर निकाला गया है और जिसके संबंध में सुधार की कोई विशेष गुंजाइश भी नहीं है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि न तो दीपा मेहता समाज सुधारक हैं और न ही उनकी प्रस्तावित फिल्म का ऐसा कोई उद्देश्य है। उनका लक्ष्य केवल पैसा कमाना है और इस संबंध में उनकी ओर से कोई लाग-लपेट या दुराव-छिपाव भी नहीं है। आश्चर्य यह है कि फिर भी कुछ लोग उनके व्यावसायिक कृत्य के समर्थन में इस प्रकार लामबंद हो रहे हैं जैसे वे कोई महान समाज सुधार करने जा रही हों।

हिंदू समाज में विधवा उद्धार का विषय कोई नया नहीं है। पिछली सदी में इस संबंध में कई महान विचारकों और समाज सुधारकों ने भारतीय समाज की चेतना को जागृत करने के प्रयास किये और उनके प्रयासों के फलस्वरूप ही विधवा पुनर्विवाह को पूरे देश में सामाजिक मान्यता प्राप्त हो सकी है। इन सभी विचारकों एवं समाज सुधारकों ने अत्यन्त संवेदनशीलता से भावनाओं को आहत किये बिना अपना महान कार्य किया। इनमें से किसी की भी दृष्टि किसी भी प्रकार का व्यावसायिक लाभ कमाने पर नहीं थी। इनमें से कोई भी विदेशी नागरिक नहीं था और इनमें से किसी ने भी विधवाओं की दुर्दशा को तमाशा बनाकर विदेशी दर्शकों को परोसने की कोशिश नहीं की। उपरोक्त प्रत्येक बिन्दु पर दीपा मेहता देश के महान विचारकों और समाज सुधारकों से विपरीत दिखाई देती हैं। दीपा मेहता के बारे में अविश्वास का भाव उपजने का यह प्रमुख कारण है, जो कि पटकथा के चंद शब्द अथवा संवाद बदल देने से दूर नहीं होगा।

इस्लामी इतिहास के काले अध्यायों को उजागर करने का प्रयास करने पर पूरे विश्व के मुसलमान हिंसा पर उतारू हो आते हैं, इसलिए कोई भी कलाकार या लेखक या फिल्मकार इस प्रकार का प्रयास नहीं करता। एक जमाने में ईसाई चर्च वैज्ञानिकों को जिंदा जला देता था। पिछले तीन सौ वर्षों में चर्च में कई परिवर्तन आए हैं। किंतु आज भी चर्च, पादरियों अथवा नन्स के विषय में लिखते समय अथवा किसी कृति का निर्माण करते समय अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता होती है। इस्लाम और ईसाई धर्म के मुकाबले हिंदू धर्म अत्यन्त सहनशील है। सुधारकों के प्रति हिंदू समाज का रवैया साधारणतः बहुत अच्छा रहा है और भारत में कभी भी किसी सुधारक को उत्पीड़न का सामना नहीं करना पड़ा। कला और वाणी की स्वतंत्रता के पक्षधर लोगों को इस तथ्य को सदा ध्यान में रखना चाहिए। और साथ ही यह भी समझना चाहिए कि हिंदू समाज की इस स्थिति को कायम रखने के लिए लेखकों, कलाकारों और फिल्मकारों को हिंदू समाज और धर्म से जुड़े विषयों के संबंध में स्वअनुशासन हेतु एक आचार संहिता को अपनाना वांछनीय होगा। यदि वे ऐसा नहीं कर सके तो कला एवं वाणी की स्वतंत्रता के संबंध में उनका आग्रह जनमानस की निगाह में कमजोर हो जाएगा तथा हिंदू समाज अपनी मौलिक सहिष्णुता और सहनशीलता को धीरे-धीरे त्याग कर इस्लाम और ईसाई धर्म की तरह बनने को मजबूर होने लगेगा।

इस्लाम और ईसाई धर्म के विपरीत हिन्दू धर्म में हिन्दुओं की सामूहिक भावनाओं को व्यक्त करने का कोई संस्थागत माध्यम नहीं है। पिछले कुछ दशकों से संघ परिवार जिसमें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, भारतीय जनता पार्टी, विश्व हिन्दू परिषद इत्यादि कई संगठन सम्मिलित हैं, ने हिन्दू समाज का स्वघोषित प्रवक्ता बनने का प्रयास किया है। लेकिन साथ ही अपने स्वरूप को वृहद करने के प्रयास में संघ परिवार ने अपने आप को बहुमुखी बना लिया है। एक ओर तो संघ परिवार में अत्यन्त उदारवादी, अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण तथा तौर-तरीकों से सुसज्जित चिकने-चुपड़े लोग हैं, तो दूसरी ओर संघ परिवार के अधिकतर सदस्य, कार्यकर्ता एवं स्वयंसेवक पारम्परिक मध्यम वर्ग से आते हैं। इन दो विपरीत प्रकृति वाले समूहों की मानसिकता का विरोधाभास वाटर प्रकरण में स्पष्ट दिखायी दिया है।

एक ओर तो वाराणसी में जनांदोलन की बागडोर पूर्णतः संघ परिवार के विभिन्न संगठनों और नेताओं के हाथ में थी। दूसरी ओर संघ परिवार के ही कुछ वरिष्ठगण, जिनमें भारत सरकार के कुछ मंत्री भी हैं, दीपा मेहता की हरसंभव मदद करने का प्रयास कर रहे हैं। इससे जो भ्रमपूर्ण स्थिति उत्पन्न हुई है, उससे संघ परिवार की छवि को आघात पहुँचा है। संघ परिवार को इन अंतर्विरोधों को समाप्त करने के लिए गंभीर विचारमंथन करना चाहिए।

लेकिन अपनी समस्त गलतियों, भूलों, अंतर्विरोधों और विरोधाभासों के बावजूद भाजपा एवं संघ परिवार को विशेष चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि राजनैतिक परिदृश्य के दूसरे छोर पर खड़ी काँग्रेस भारतीय जनमानस एवं जनभावनाओं को न तो समझ रही है और न ही समझने का कोई प्रयास करती प्रतीत होती है। बिना किसी हिंसा या जोर-जबर्दस्ती के सात फरवरी को वाराणसी बंद का पूर्णतः सफल होना वाटर फिल्म के संबंध में वाराणसी की जनता की भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति थी। जनता की इस सामूहिक आवाज को नजरअंदाज कर मध्यप्रदेश के काँग्रेसी मुख्यमंत्री दीपा मेहता को नर्मदा तट पर फिल्मांकन के लिए आमंत्रित कर रहे हैं। कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि काँग्रेस बहुत तेजी से भारतीय इतिहास का एक डायनोसोर या लुप्तप्राय प्राणी बनती जा रही है।

राजनैतिक चश्मों से देखकर मीडिया के कुछ बन्धुवर वाराणसी के जनाक्रोश को विभिन्न प्रकार के नाम दे रहे हैं। कुछ कूपमण्डूक विद्वतजन गंभीरता का लबादा ओढ़े मौलिक अधिकारों तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बड़े-बड़े तर्क तो देते हैं पर यह देखने का कष्ट नहीं करते कि श्रद्धा से जुड़े विभिन्न विषयों पर विश्व के अन्य देश क्या नजरिया रखते हैं। इन विद्वतजनों को अपने तर्कों के मायाजाल से निकलकर विश्व की सच्चाईयों को समझना चाहिए। उदारवादी दृष्टिकोण, आधुनिक मानसिकता और सच्ची धर्मनिरपेक्षता सभी धर्मों के पवित्र स्थानों के संबंध में संवेदनशील होने में है। किसी को भी किसी भी पवित्र नगर के बारे में विवाद पैदा कर और तमाशा खड़ा कर मुनाफा कमाने का कोई अधिकार नहीं है – चाहे वह पवित्र नगर वैटिकन हो, या यरूशलम हो, या मक्का हो, या मदीना हो या फिर वाराणसी अथवा तिरुपति हो। सारा विश्व इस मूलभूत सिद्धांत को समझता तथा स्वीकार करता है। अब समय आ गया है कि दीपा मेहता, शबाना आजमी, नंदिता दास, जावेद अख्तर और शाहरुख खान जैसे लोग भी यह सिद्धांत समझ लें।

१३ फरवरी, २०००

६ लोकतंत्र, भीड़तंत्र तथा विश्वविद्यालय

गाँव की चौपाल पर सरपंच साहब और शहर से आये छोरे के बीच बहस छिड़ गयी। सरपंच साहब का कहना था कि एक फुट में आठ इंच होते हैं और शहरी छोरा एक फुट में बारह इंच बता रहा था। बहस ने गरमागरमी का रूप ले लिया तो आस-पास खड़े लोगों ने बीच-बचाव कर बात को पंचायत में ले जाने का सुझाव दिया। पंचायत में इस विषय पर लंबी बहस चली। सरपंच जी की पार्टी का बहुमत था इसलिए पंचायत ने बहुमत से निर्णय दिया कि एक फुट में आठ इंच होते हैं। साथ ही पंचायत ने उस शहरी छोरे को सरपंच की गरिमा और सम्मान के विरुद्ध बोलने के अपराध में गाँव से निष्कासित कर दिया।

हमारे देश में लोकतंत्र का अर्थ चुनाव और बहुमत समझ लिया गया है। यह मान लिया जाता है कि यदि किसी देश में नियमित चुनाव हो रहे हैं तो वहाँ लोकतंत्र है। जब कि सच यह है कि दुनिया के अधिकतर फासिस्ट तानाशाह चुनावों के माध्यम से ही चुने गये थे। लोकतंत्र को सही अर्थों में समझने के लिए हमें लोकतंत्र (डेमोक्रेसी) और भीड़तंत्र (ऑक्लोक्रेसी अथवा फासिज्म) के बीच में अंतर समझना होगा।

आधुनिक युग में लोकतंत्र का प्रारंभ १७८६ की फ्रांस की क्रांति से माना जाता है। भारत के संविधान की उद्देशिका में न्याय, स्वतंत्रता, समता तथा बंधुता की बात की गयी है। इन शब्दों को राजनैतिक गरिमा फ्रांस की क्रांति में ही प्राप्त हुई थी। भारत के संविधान में प्रदत्त मूलभूत अधिकारों का सर्वप्रथम उद्घोष फ्रांस की क्रांति के पश्चात गठित असेम्बली द्वारा पारित घोषणापत्र में किया गया था।

यह कहना गलत नहीं होगा कि भारत का संविधान फ्रांसीसी क्रांति के आदर्शों पर आधारित है। हमारे स्कूलों और कॉलेजों में विद्यार्थियों को इतिहास पढ़ाते हुये फ्रांसीसी क्रांति की प्रशंसा में लंबे भाषण पिलाये जाते हैं। भारत में बहुत कम लोगों को इस तथ्य की जानकारी है कि फ्रांसीसी क्रांति एक असफल क्रांति थी जिसने न केवल फ्रांस में अपितु पूरे यूरोप में युद्ध और विनाश की एक लंबी श्रंखला प्रारंभ की थी।

फ्रांस की क्रांति के बाद फ्रांस में जो नेतृत्व उभरा वह निर्वाचित भी था और आम जनता का प्रतिनिधित्व भी करता था, परन्तु व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा के मकड़जाल में उलझे इस नेतृत्व ने फ्रांस को एक के बाद एक युद्ध में ढकेल दिया। इस स्वकेन्द्रित अहंकारी विनाशकारी नेतृत्व का चरमबिन्दु नेपोलियन बोनापार्ट था जिसने पूरे यूरोप को तहस-नहस कर दिया और अंततः फ्रांस को भी बरबाद किया।

जब नेपोलियन के आक्रमणों के बाद यूरोप में सर्वत्र निराशा छायी थी तथा लोगों का लोकतंत्र से विश्वास उठने लगा था तब पराजित जर्मनी में विल्हेल्म हुम्बोल्ट ने एक नयी क्रांति का सूत्रपात किया। हुम्बोल्ट ने १८१० में बर्लिन विश्वविद्यालय की स्थापना की तथा शासनतंत्र एवं विश्वविद्यालयों के बीच रिश्तों को परिभाषित किया। उनकी पुस्तक 'राज्य के कार्य की सीमाएँ' (दि लिमिट्स ऑफ स्टेट एक्शन) लोकतंत्र तथा उदारवादी (लिबरल) विचारधारा के विकास में एक मील का पत्थर मानी जाती है। हुम्बोल्ट का मानना था कि विश्वविद्यालय किसी भी राष्ट्र में ज्ञान का प्रवेश द्वार भी होते हैं तथा उद्गम स्थल भी। हुम्बोल्ट के अनुसार विश्वविद्यालयों में वैचारिक प्रक्रिया सतत चलनी चाहिए और उसके द्वारा राजनीति तथा शासनतंत्र को निर्देशित तथा नियमबद्ध किया जाना चाहिए।

हुम्बोल्ट तथा बर्लिन विश्वविद्यालय ने लोकतंत्र को एक नया रूप दिया। चुनाव और बहुमत की लाठी से मुक्त हो लोकतंत्र में बहस एवं विचार-विमर्श को महत्त्व दिया जाने लगा। शासनतंत्र द्वारा नीति निर्धारण में विश्वविद्यालयों को महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान की गयी। जर्मनी में बर्लिन एवं हाइडलबर्ग तथा ब्रिटेन में ऑक्सफॉर्ड एवं कैम्ब्रिज की ऐतिहासिक प्रतिष्ठा के पीछे मात्र उनका शैक्षणिक स्तर नहीं था अपितु यह सर्वविदित तथ्य था कि इन देशों की लगभग समस्त नीतियों को इन विश्वविद्यालयों में चलने वाली बहस प्रभावित करती थी और वर्तमान में भी करती है। आज भी अमेरिकी विश्वविद्यालयों के 'थिंक टैंक' अमेरिका की नीतियों पर व्यापक प्रभाव डालते हैं।

१७८६ की फ्रांसीसी क्रांति में तो जनक्रोध का लावा फूट कर बाहर निकला था, परन्तु सही अर्थों में आधुनिक लोकतंत्र की यात्रा १८१० में बर्लिन से प्रारंभ हुई और तभी से लोकतंत्र एवं विश्वविद्यालयों की विकास यात्रा साथ-साथ चलती रही है। इसी कारण जहाँ विश्वविद्यालय अच्छी स्थिति में हैं वहीं लोकतंत्र सफल है।

भारत का दुर्भाग्य यह है कि हमने १७८६ की असफल क्रांति के आदर्शों को तो अपनाया पर हुम्बोल्ट को पढ़ने का कष्ट नहीं किया। स्वाभाविक है कि हम उसी काल में अटके हैं जिसमें फ्रांस दो शताब्दी पूर्व फँसा था। आज के भारत के नेताओं में लगभग वे सभी दुर्गुण हैं जो क्रांति के बाद के फ्रांस के नेताओं में थे।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत में जोर-शोर से विश्वविद्यालयों की स्थापना की गयी किंतु हमारे नेताओं एवं नौकरशाहों ने इन्हें या तो अपनी चेरि बना कर रखा या डिग्री बाँटने वाली दुकानों के रूप में। परिणामस्वरूप आज हमारे अधिकतर विश्वविद्यालय अपने नाम को सार्थक नहीं करते।

यदि भारत में भीड़तंत्र के स्थान पर सच्चा लोकतंत्र स्थापित करना है और यदि भारत को अहंकारी, स्वार्थी, भ्रष्ट, विनाशकारी नेताओं से मुक्ति दिलानी है तो हमें हुम्बोल्ट की क्रांति को अंगीकृत करते हुए विश्वविद्यालयों को सशक्त बनाना होगा तथा विश्वविद्यालयों को शासनतंत्र में एक सम्मानजनक भूमिका देनी होगी। भारतीय संदर्भ में विश्वविद्यालयों एवं अन्य बुद्धिजीवियों को ऐसी भूमिका प्रदान करने के लिए ही गुरु सभा की परिकल्पना की गयी है। स्वाभाविक है कि इसके लिए संविधान के मूल ढाँचे में परिवर्तन की आवश्यकता होगी।

बहुमत की लाठी के स्थान पर वैचारिक बहस को प्राथमिकता देना ही गाँधी के सत्य को प्रतिष्ठित करेगा और यही लोकनायक जयप्रकाश नारायण के सपनों की सम्पूर्ण क्रांति होगी। ऐसा होने पर ही एक फुट में बारह इंच कहने वाले को निष्कासन के स्थान पर सम्मान प्राप्त हो सकेगा।

४ सितम्बर, २०००

७ सेना, नेता और लोकतंत्र

भारतीय परिदृश्य पर एक मजेदार विरोधाभास दिखाई देता है। भारतीय जनमानस का प्रतिनिधित्व करने वाली बंबईया फिल्मों में सेना का जवान या अफसर सदा ईमानदार और देशप्रेमी दिखाया जाता है तथा नेता को भ्रष्ट देशद्रोही के रूप में चित्रित किया जाता है। इसके ठीक विपरीत यदि आप किसी पाँच सितारा सेमीनार में चले जायें या समाचारपत्रों में प्रबुद्ध टिप्पणियाँ पढ़ें तो ऐसा प्रतीत होगा कि सैनिक शासन नाम के हव्हे से देश को बचाने के लिए सेना के अधिकारियों को हर तरह से दबाना, लोकतंत्र और देश के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। यह कैसी विडम्बना है कि आम जनता के मानसपटल पर नेता विलेन तथा सेना का अधिकारी हीरो है और दूसरी ओर नेता, नौकरशाह एवं शासकीय सुख-सुविधा भोगने वाले प्रबुद्ध वर्ग के अनुसार सेना का अधिकारी विलेन तथा नेता हीरो है।

पिछली शताब्दी में गुलामी से मुक्ति पाने वाले अधिकांश देशों में सेना ने शासन में कुछ-न-कुछ दखल रखा है और कई देशों में सेना ने निर्वाचित सरकारों को पदच्युत कर सत्ता की बागडोर अपने हाथों में ले ली है। भारत में सेना ने सदा संयमित व्यवहार किया है और कोई राजनैतिक महत्वकांक्षा नहीं रखी। राजनैतिक आकाओं ने इस स्थिति का भरपूर लाभ उठाया और उन क्षेत्रों में भी सेना से विचार-विमर्श नहीं किया जिनके बारे में सैन्य अधिकारी ही सही निर्णय ले सकते थे। अपने को सर्वज्ञाता मानने वाले अंहकारी नेताओं ने राष्ट्रीय सुरक्षा को लगातार खतरे में डाला। नेताओं की हर गलती के बावजूद यदि हम आज भी राष्ट्र के रूप में जिन्दा हैं तो यह निश्चय ही हमारी सेना की बहादुरी और बलिदान के कारण हैं। कुछ उदाहरणों से बात स्पष्ट हो जाएगी।

स्वतंत्रता के कुछ दिनों बाद ही पाकिस्तान ने भारत पर हमला कर दिया था। सेना के अधिकारियों की समस्त सलाहों को दरकिनार कर पंडित जवाहरलाल नेहरू ने जो निर्णय लिए उनके कारण आज तक काश्मीर समस्या सुलझ नहीं पाई है। १९६२ का चीनी आक्रमण तो पूरी तरह पंडित नेहरू की गलतियों के लिए ही याद किया जाता रहेगा। कोलम्बो जाते हुए उनका वह गैरजिम्मेदाराना बयान जिसके दो दिन बाद ही चीन ने भारत पर आक्रमण कर दिया था इतिहास का हिस्सा है। बहुत कम लोग यह जानते हैं कि हम १९६२ में चीन से युद्ध जीत सकते थे। उस समय चीन के पास वायु सेना नहीं थी और हमारी वायु सेना के विमान उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में तैयार खड़े थे। वायु सेना के अधिकारियों ने युद्ध में भाग लेने की अनुमति माँगी पर शांति के दूत नेहरू जी ने युद्ध हारना स्वीकार किया और वायु सेना को अनुमति नहीं दी। पंद्रह वर्षों तक सेना को लगातार कमजोर करने वाले पंडित नेहरू यदि उस समय भी वायु सेना का अनुरोध मान लेते तो हम आज चीन के सामने हीन भावना से ग्रसित न होते।

१९६५ और १९७१ में सैनिकों ने शूरवीरता से जो कुछ जीता था उसे हमारे सम्माननीय नेताओं ने ताशकंद और शिमला में गँवा दिया। इन सबसे अधिक कष्टप्रद तो वह प्रसंग है जब राजीव गांधी ने भारतीय सेना को श्रीलंका में भेज अपने देश के सैनिकों का खून निरर्थक बहाया था।

केवल चीन, पाकिस्तान और श्रीलंका के संदर्भ में ही नहीं अपितु लगभग हर आंतरिक मोर्चे पर भी राजनैतिक विफलताओं और अक्षमताओं के कारण बिगड़ी परिस्थितियों को सुधारने के लिए भारतीय सेना ने खून बहाया है। आश्चर्य यह है कि हमारे राजनेताओं, नौकरशाहों और उनके टुकड़ों पर पलने वाले बुद्धिजीवियों ने इन ऐतिहासिक सच्चाइयों के बावजूद सेना को राष्ट्रीय सुरक्षा से जुड़े मामलों से भी लगातार दूर रखने का प्रयास किया है।

सैनिक शासन की तुलना में कोई भी निश्चय ही लोकतंत्र को चुनेगा। परन्तु यदि लोकतांत्रिक प्रक्रिया से उभरे नेता बुद्धिविहीन, अहंकारी एवं भ्रष्ट होने के साथ-साथ विशेषज्ञों की सलाह से परहेज कर राष्ट्र का अहित करने लगे तो इस प्रकार के लोकतंत्र में सैन्य शासन के समस्त अवगुण आ जाते हैं तथा लोकतंत्र की उपयोगिता पर ही प्रश्नचिन्ह लग जाता है।

स्पष्टतः आवश्यकता इस बात की है कि एक ऐसी व्यवस्था स्थापित की जाए जिसमें राष्ट्रीय सुरक्षा से जुड़े सभी विषयों पर सेना को विचार-विमर्श में सहभागी बनाया जाए। विश्व के अधिकतर स्थापित लोकतांत्रिक देशों में इस हेतु परंपराएँ हैं जिनका पालन करना आवश्यक माना जाता है। इन देशों में या तो लिखित संविधान है ही नहीं या संविधान में न्यूनतम प्रावधान हैं तथा समस्त राजकार्य परंपराओं के आधार पर चलता है। इसके विपरीत भारत में राजकीय कार्य एक विस्तृत संविधान के अनुसार चलता है। इसलिए सेना को राष्ट्रीय सुरक्षा से जुड़े विषयों पर सहभागिता देने के लिए हमें अपने संविधान में मूलभूत परिवर्तन कर एक रक्षा सभा का प्रावधान करना होगा। यह रक्षा सभा राष्ट्रीय सुरक्षा संबंधी समस्त विषयों पर निर्णय लेगी और इसमें सेना के तीनों अंगों का समुचित प्रतिनिधित्व होगा।

रक्षा सभा का सबसे अधिक विरोध राजनेताओं तथा नौकरशाहों द्वारा किया जाएगा क्योंकि इससे सत्ता पर उनके एकाधिकार को चोट पहुँचेगी। परन्तु भारतीय जनमानस का राजनेताओं तथा नौकरशाहों से विश्वास उठ चुका है। सच तो यह है कि जनता इन्हें सफेदपोश अपराधी मानती है और इनके विरुद्ध जन-जन के मन में एक विद्रोह पनप रहा है। इससे पहले कि इस विद्रोह का ज्वालामुखी फूटे, देश के विचारवान लोगों को संविधान के मूल ढाँचे में परिवर्तन कर राजनेताओं तथा नौकरशाहों की असीमित शक्तियों पर अंकुश लगा कर राष्ट्रीय सुरक्षा से जुड़े विषयों पर विचार-विमर्श में सेना की सहभागिता सुनिश्चित करनी चाहिए।

४ सितम्बर, २०००

८ राजनैतिक व्यवस्था का कैसर

मानव शरीर में प्रत्येक अंग आवश्यक तथा महत्वपूर्ण है किन्तु यदि किसी अंग की कोशिकाएँ असामान्य रूप से विकसित होने लगे तो यह पूरे शरीर के लिए घातक होता है। चिकित्सा विज्ञान की भाषा में इसे कैंसर कहते हैं। लगभग कैंसर जैसी ही स्थिति किसी देश में उत्पन्न होती है जब उसके राष्ट्रीय जीवन का एक आवश्यक अंग बाकी सब अंगों पर हावी होने लगता है या असामान्य रूप से विकसित हो जाता है।

भारत के संविधान में राजनैतिक दल नाम की कोई परिकल्पना कहीं नहीं झलकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि संविधान निर्माताओं ने एक ऐसे लोकतंत्र की कल्पना की थी जिसमें मतदाता राजनैतिक दलों को नहीं व्यक्तियों को चुनेंगे। महात्मा गाँधी स्वतंत्रता के पश्चात काँग्रेस को भंग करने के पक्ष में थे। संभवतः महात्मा गाँधी के आदर्शों से प्रभावित संविधान सभा के विद्वानों ने सोचा हो कि काँग्रेस भंग होने के बाद देश में दलगत राजनीति समाप्त हो जाएगी, अतः दलीय लोकतंत्र के स्थान पर उन्होंने व्यक्तिकेन्द्रित लोकतंत्र की नींव रखी। परन्तु संविधान लागू होने के तुरन्त बाद और प्रथम आम चुनाव के पूर्व ही लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम पारित कर संविधान के मूल ढाँचे में एक अघोषित परन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा दूरगामी प्रभाव वाला संशोधन कर दिया गया। व्यक्तिकेन्द्रित लोकतंत्र की संविधान निर्माताओं की परिकल्पना को घूरे पर फेंक कर दलीय लोकतंत्र की स्थापना कर दी गयी।

कुछ लोगों का मानना है कि लोकतंत्र के लिए राजनैतिक दल एक आवश्यक शर्त हैं और व्यक्तिकेन्द्रित लोकतंत्र न तो विश्व में कहीं है और न ही संभव है। अमेरिका और यूरोप के कई लोकतांत्रिक देशों के संविधानों में भी राजनैतिक दलों का जिक्र नहीं है फिर भी वहाँ दलीय लोकतंत्र है। लेकिन विश्व के किसी भी देश में इतना विस्तृत लिखित संविधान नहीं है और वहाँ अलिखित परंपराओं को अत्याधिक महत्त्व दिया जाता है। ब्रिटेन में तो लिखित संविधान है ही नहीं, वहाँ परंपरा ही सर्वोपरि है। भारत में हमने वहाँ की परंपराओं को लिखित स्वरूप दिया और लेखबद्ध करते हुए राजनैतिक आकाओं ने अपनी सुविधा का ध्यान सबसे अधिक रखा अर्थात् जो परंपरा राजनैतिक शिखरपुरुष पर अंकुश लगाती थी, उसे नकार दिया। संविधान निर्माताओं द्वारा संविधान में इस संबंध में स्पष्ट प्रावधान न करने के कारण मैदान इन शिखरपुरुषों की मनमानी के लिए साफ था ही।

भारत के सभी प्रमुख राजनैतिक दल कहने भर को ही लोकतांत्रिक हैं। कोई प्रमुख राजनैतिक दल यह दावे के साथ नहीं कह सकता कि उसके सभी सदस्य असली हैं। फर्जी सदस्यों के आधार पर पार्टी के चुनाव कराये जाते हैं और वह भी साधारणतः कराए ही नहीं जाते। राजनैतिक दलों में आंतरिक लोकतंत्र स्थापित करने के लिए हमारे देश में वो परंपराएँ नहीं हैं जो अमेरिका और यूरोप में हैं।

आश्चर्य यह है कि खोखले आधार के बावजूद पिछले पाँच दशकों में हमारी लोकतांत्रिक प्रक्रिया पर राजनैतिक दलों और उनके हाईकमानों का शिकंजा लगातार कसता जा रहा है। अब स्थिति यह आ गयी है कि सांसद और विधायकों की व्यक्तिगत वैचारिक क्षमताएँ निरर्थक हो गयी हैं और वे मात्र कठपुतलियाँ बन गये हैं। विश्व के किसी भी लोकतंत्र में निर्वाचित प्रतिनिधि को स्वविवेक के आधार पर मत व्यक्त करने का अधिकार होता है पर भारत में इस अधिकार को भी छीन कर हमने लोकतंत्र (डेमोक्रेसी) को चाबुकतंत्र (डिपोक्रेसी) में परिवर्तित कर दिया है। हजारों सांसदों एवं विधायकों नामक कठपुतलियों को वेतन, भत्ते इत्यादि देने के स्थान पर क्या यह बेहतर नहीं होगा कि प्रत्येक पार्टी को

मिले वोटों के आधार पर पार्टी अध्यक्ष के मत का महत्वांक तय कर दिया जाए और विभिन्न पार्टियों के अध्यक्ष एक कमरे में बैठ कर चर्चा कर लें।

लोकतंत्र को चाबुकतंत्र बनाने के कारण संसद और विधायिकाओं में बहस मात्र लपफाजी बन कर रह गयी है तथा सांसदों एवं विधायकों की विधि निर्माण में रूचि समाप्त हो गयी है। अधिकतर सांसद और विधायक विधेयकों को पढ़ते तक नहीं हैं। विधि निर्माण, जो कि लोकतंत्र में निर्वाचित प्रतिनिधियों का प्रमुख कार्य होता है, से मुँह फेर लेने के बाद हमारे प्रतिनिधिगण आजकल कार्यपालिका में हस्तक्षेप को ही अपना प्रमुख कार्य मानने लगे हैं। स्थानांतरण करवाना, थाने में रौब झाड़ना, सरकारी कार्यों को गति देना इत्यादि के माध्यम से ही सांसद और विधायक जनसेवा करते हैं।

यदि निर्वाचित प्रतिनिधि नीतिगत मामलों तथा विधि निर्माण के संबंध में हाथ उठाने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकते और अपना अधिकतर समय अन्य कार्यों में लगाते हैं तो हमारी संवैधानिक व्यवस्था को लोकतंत्र कतई नहीं माना जा सकता। इसके साथ ही जब आप यह देखें कि अधिकतर पार्टियों में आंतरिक लोकतंत्र केवल दिखावे भर को ही है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि हम लोकतांत्रिक व्यवस्था में नहीं जी रहे।

इस परिस्थिति को बदलने के लिए आवश्यक है कि संविधान के मूल ढाँचे में परिवर्तन कर सच्चे अर्थों में लोकतंत्र की स्थापना की जाए। राजनैतिक दलों की निरंकुश शक्ति पर अंकुश लगाने के लिए संसद और विधायिका में ऐसे सदनों की स्थापना करना आवश्यक है जो राजनैतिक शिखरपुरुषों के चाबुकों से संचालित न हों। साथ ही वर्तमान लोक सभा एवं विधान सभाओं की विधि निर्माण की जिम्मेदारी को कुछ कम करके उन्हें कार्यपालिका में कुछ दायित्व एवं शक्तियाँ प्रदान करना जन आकांक्षाओं, जनता की अपेक्षाओं तथा वर्तमान में स्थापित अघोषित कार्यप्रणाली के अनुरूप होगा।

यदि, हम, भारत के लोग, यह कर सके तो आने वाले वर्षों में हम एक सशक्त लोकतांत्रिक राष्ट्र के रूप में उभरेंगे अन्यथा हमारी राजनैतिक व्यवस्था का कैंसर राष्ट्र के रूप में हमारे अस्तित्व पर ही प्रश्नचिन्ह खड़े कर देगा।

४ सितम्बर, २०००

६ अंधों में काना और लोकतंत्र

कहते हैं कि अंधों में काना राजा होता है। पता नहीं किस युग में यह कहावत प्रचलित हो गयी। ऐसा तो संभव नहीं लगता कि किसी युग में कोई ऐसा राज्य था जिसमें सभी निवासी अंधे थे और वहाँ एक काने के आगमन पर सभी निवासियों ने सर्वसम्मति से उस काने को राजा घोषित कर दिया। संभवतः किसी कल्पनाशील साहित्यकार ने इस कहावत की रचना की होगी। आज के युग में तो कुछ और ही अनुभव होता है। यदि अंधों के समूह में कोई एक आँख वाला पहुँच जाए तो इस युग में केवल दो ही संभावनाएँ हैं – या तो सभी अंधे संगठित होकर उस काने की आँख फोड़ देंगे या फिर उस काने को अंधक दल से छः वर्ष के लिए निष्कासित कर दिया जाएगा।

भारत में लगभग सभी राजनैतिक दल अंधों के समूह की तरह व्यवहार करते हैं जहाँ दृष्टिविहीन, बुद्धिविहीन का सम्मान होता है और सत्यवादी, बुद्धिमान, विद्वान, दृष्टिवान को हेय दृष्टि से देखा जाता है। प्रारंभिक चयन से लेकर आंतरिक पदोन्नति के सभी सोपानों पर यह परखा जाता है कि व्यक्ति ने अंधत्व की किस श्रेणी को प्राप्त कर लिया है। कुछ सुंदर प्रतीत होने वाले वाक्य जिन्हें सिद्धांत कहा जाता है और कुछ कलफ लगे वस्त्र पहने व्यक्ति जिन्हें नेता कहा जाता है – इनके प्रति अंध भक्ति जब समस्त सीमाओं को पार कर जाती है तो अंधत्व की पराकाष्ठा को प्राप्त सिद्ध पुरुष राजनैतिक जीवन में उच्चतम पद को प्राप्त करता है।

सारी व्यवस्था में भूचाल तो तब आता है जब अंधत्व की पराकाष्ठा को प्राप्त किसी सिद्ध पुरुष की एक आँख जाग्रत हो जाती है। परम अंधत्व को प्राप्त उच्चपदाधिकारी यदि काना बन जाए तो अन्य अंधों का विचलित होना स्वाभाविक है। उन बेचारों का तो पूरा संसार डोलने लगता है। वे उस सिद्धपुरुष को तुरंत अपनी जाग्रत आँख को बंद कर परम अंधत्व की तपस्या में लीन रहने का आदेश देते हैं और यदि आदेश का तुरंत पालन नहीं होता तो अपने अंधक संसार की रक्षा के लिए बिना किसी विलंब के उस सिद्धपुरुष को समस्त अपमानजनक विशेषणों से सुशोभित कर अपने संसार से निष्कासित कर देते हैं।

पिछले दो सप्ताह से काँग्रेस में जो उथल-पुथल मची हुई है, उसके पीछे जो अंधभक्ति है, उससे कई प्रश्न उठते हैं। विभिन्न चर्चाओं में नागरिकता, जन्मस्थान और मूलनिवासी के संबंध में संवैधानिक प्रावधानों का हवाला दिया गया है और लगभग सभी ने यह स्वीकार किया है कि इस संबंध में अंतिम निर्णय जनता ही करेगी। किंतु इस प्रकरण से उभरे कई अन्य प्रश्न हैं जिन पर गंभीर चिंतन अत्यंत आवश्यक है।

भारत के संविधान में राजनैतिक दल नामक संगठन का कोई प्रावधान नहीं है। पूरे संविधान में राजनैतिक दल अथवा पार्टी का कहीं कोई उल्लेख भी नहीं है। राजनैतिक दलों की मान्यता संबंधी प्रावधान लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम द्वारा किये गये हैं। राजनैतिक दलों की उनके सांसदों एवं विधायकों पर पकड़ मजबूत करने के लिए दलबदल विरोधी प्रावधान भी किये गये हैं। संविधान निर्माताओं ने जिस संगठन को हमारे लोकतंत्र के लिए संभवतः अनावश्यक माना था, वही संगठन आज हमारे शासन तंत्र के समस्त पहलुओं पर पूरी तरह छा चुके हैं।

यह कहा जाता है कि लोकतंत्र के लिए राजनैतिक दलों का अस्तित्व आवश्यक है। हमारे देश में लोकतंत्र के अतिरिक्त अन्य शासन पद्धतियों के बारे में जानकारी अत्यंत कम है। फासिज्म को तो बिल्कुल भी नहीं समझा जाता। विश्व में जब भी फासीवाद का उदय हुआ है, वह किसी न किसी

राजनैतिक दल के माध्यम से ही हुआ है। जर्मनी में हिटलर हो या इटली में मुसोलिनी – सभी फासिस्ट तानाशाह राजनैतिक दलों के आंतरिक सोपानों पर चढ़ते हुए, चुनाव जीतकर सत्ता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचे।

जिन भी देशों में फासीवाद आया वहाँ लोकतंत्र पहले भीड़तंत्र में और फिर फासीतंत्र में परिवर्तित हुआ। राजनैतिक दलों की बहुतायत, राजनैतिक दलों में आंतरिक लोकतंत्र का अभाव, दलों का व्यक्ति आधारित स्वरूप, वाद-विवाद तथा अध्ययन के स्थान पर हिंसा, उत्तेजना और हठ से विवादों का समाधान – ये सभी लोकतंत्रीय व्यवस्था को उस चरणबद्ध विकासपथ पर ले जाते हैं जिसकी अंतिम परिणति फासिस्ट तानाशाही है।

सर्वश्री शरद पवार, संगमा एवं तारिक अनवर द्वारा उठाया गया मुद्दा कुछ लोगों के मत में सही हो सकता है कुछ के मत में गलत। उनके द्वारा दिये गये सुझाव पर बहस हो सकती है और होनी भी चाहिए। किंतु उनके सुझाव देने के अधिकार पर तो साधारणतः किसी बहस की गुंजाइश नहीं होनी चाहिए। सुझाव और विचार-विमर्श की प्रक्रिया ही तो लोकतंत्र को भीड़तंत्र बनने से रोकती है। किंतु काँग्रेस में आज न तो सुझावों के लिए स्थान है न किसी भी प्रकार के विचार-विमर्श के लिए। भीड़ जुटाना, प्रदर्शन करना, पुतले जलाना या पुतलों को जूते मारना, अश्लील गालियाँ देना – विचार विमर्श की प्रक्रिया का विकल्प नहीं हो सकता। मतभिन्नता को समाप्त करने के लिए जो हथकंडे काँग्रेसी कार्यकर्ताओं ने अपनाए वे हमारे लोकतंत्र के भीड़तंत्र में परिवर्तित होने का प्रमाण हैं। भीड़तंत्र के दो सबसे ज्वलंत उदाहरण तो यह हैं कि काँग्रेस कार्यसमिति के सदस्यों से एक प्रायोजित भीड़ ने दुर्व्यवहार किया और कई दिनों तक काँग्रेसजनों ने काँग्रेस के पदाधिकारियों को ही काँग्रेस मुख्यालय में नहीं घुसने दिया।

कहा जा सकता है कि यह सब काँग्रेस का आंतरिक मामला है। गोया काँग्रेस एक निजी सम्पत्ति है जिसके अंदर झँकने का देशवासियों को कोई अधिकार नहीं है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में सभी राजनैतिक दल देश की सार्वजनिक संपत्ति होते हैं। राजनैतिक दल की परिकल्पना इस संबंध में प्रायवेट लिमिटेड कंपनी की परिकल्पना से बिल्कुल भिन्न होती है। एक कंपनी उसके सदस्यों के द्वारा, सदस्यों के हित हेतु संचालित होती है। एक राजनैतिक दल उसके सदस्यों के द्वारा संचालित होता है परन्तु वह जनता का और जनता के लिए होता है। अतः राजनैतिक दलों के आंतरिक क्रियाकलाप और कार्यप्रणाली पर नजर रखना जनता का अधिकार भी होता है और कर्तव्य भी।

देश की सबसे पुरानी राजनैतिक पार्टी होने के कारण काँग्रेस ने अन्य पार्टियों के लिए पथप्रदर्शक के रूप में कार्य किया है। भारतीय जनता पार्टी को छोड़ सभी अन्य दलों में पूर्व काँग्रेसियों का वर्चस्व है। भाजपा ने अलग व्यक्तित्व विकसित करने का प्रयास तो किया है पर समूचे राजनैतिक परिदृश्य पर काँग्रेस के प्रभाव से वह पूर्णतः अछूती नहीं रह पायी है। भारतीय राजनीति के पथप्रदर्शक की ऐतिहासिक भूमिका निभाने के कारण काँग्रेस में आंतरिक लोकतंत्र की समाप्ति और भीड़तंत्र की स्थापना का भारत की लोकतांत्रिक व्यवस्था पर दूरगामी प्रभाव पड़ेगा।

पूरे विश्व में किसी भी लोकतंत्र में सांसदों और विधायकों पर व्हिप का उस प्रकार प्रयोग नहीं होता जिस प्रकार भारत में होता है। पार्टी के व्हिप का उल्लंघन करने पर संसद/ विधान सभा से सदस्यता समाप्ति का प्रावधान किसी अन्य प्रमुख लोकतांत्रिक देश में नहीं है। अभी कुछ सप्ताह पूर्व अमरीका की संसद में जब राष्ट्रपति बिल क्लिंटन पर महाभियोग की प्रक्रिया प्रारंभ हुई तो उनकी पार्टी ने उनको बचाने के लिए अपने सदस्यों को कोई आदेश जारी नहीं किया। व्हिप की व्यवस्था ने हमारे देश के सांसदों और विधायकों को भेड़-बकरी की तरह बना दिया है और संसद तथा विधान मंडल में होने

वाली बहस को निरर्थक प्रलाप। सांसद और विधायक न सोच सकते हैं और न समझ सकते हैं। उनके लिए सोचने – समझने का काम उनका हाई कमान कर लेता है और उन्हें जैसा आदेश देता है वैसा वे हाथ उठा देते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था तभी लोकतांत्रिक व्यवस्था रह सकती है, जब निर्णय सामूहिक हो और समुचित विचार-विमर्श एवं खुली बहस के बाद हो। यदि पार्टी में अंधभक्ति एवं चापलूसी का वातावरण हो तथा मतभिन्नता को बहस के स्थान पर उत्तेजना और हठ से प्रताड़ित करने की परंपरा हो, तो व्हिप संबंधी कानून लोकतंत्र को फासीतंत्र में परिवर्तित करने में प्रमुख भूमिका अदा करता है।

जिस प्रकार व्हिप जैसे पार्टी के आंतरिक आदेशों को वैधानिक मान्यता प्रदान की गयी है, उसी प्रकार लोकतंत्र की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न राजनैतिक दलों में आंतरिक लोकतंत्र की स्थापना के लिए समुचित कदम उठाए जाएँ। लोकतंत्र में अल्पसंख्यकों की रक्षा की बात की जाती है। इसका अर्थ भारत में धार्मिक अल्पसंख्यकों तक सीमित कर दिया गया है। अल्पसंख्यक की परिभाषा को व्यापक बनाते हुए वैधानिक प्रावधान कर राजनैतिक दलों के अंदर वैचारिक मतभेद रखने वाले अल्पसंख्यक सदस्यों की रक्षा का प्रावधान किया जाना चाहिए। यदि कोई राजनैतिक दल वैचारिक रूप से अल्पसंख्यक सदस्यों को समुचित सुरक्षा और सम्मान नहीं देता है तो उस दल के नेतृत्व से व्हिप जारी करने का अधिकार वापिस ले लेना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो भारत में लोकतांत्रिक चुनावों के माध्यम से फासिस्ट तानाशाही आने का खतरा बना रहेगा।

अंधों के समूह में काना सदा अल्पसंख्यक ही होता है। लोकतंत्र में इस अल्पसंख्यक को सुरक्षा प्रदान की जाती है और फासीतंत्र में या तो उसकी आँख फोड़ दी जाती है या उसे निष्कासित कर दिया जाता है। फासीवाद किसी भी दल अथवा समाज के दीर्घकालिक हित में नहीं होता पर तात्कालिक रूप से एक फासीवादी दल को एकता की शक्ति प्राप्त होती है जिससे उसे तात्कालिक लाभ मिलते हैं। राजनीति की तात्कालिक प्रकृति अन्य दलों को भी फासीवादी व्यवस्था अपनाने पर मजबूर करती है। अतः यह आवश्यक है कि अंधों में काने को राजा चाहे ना बनाया जाए पर यदि कोई अंधों का समूह किसी काने की आँख फोड़ने का प्रयास करे तो इसे उनका आंतरिक मामला न मानकर पूरा देश सचेत हो जाए।

२५ मई, १९६६

१० अक्ल, भैंस, लाठी और लोकतंत्र

अक्ल बड़ी या भैंस? यह सवाल यदि आप किसी भी स्कूल के मास्टर से बच्चों के सामने पूछेंगे तो कहेगा कि अक्ल और यदि अकेले में पूछेंगे तो कहेगा कि मेरी सारी अक्ल लेकर दो-चार भैंसे दिलवा दो तो बड़ी कृपा होगी। यदि किसी सम्माननीय राजनेता से यही सवाल पूछा जाए तो कहेगा कि इस तरीके के ऊलजलूल सवालों में क्या रखा है, जो वोट दिलवाए वही बड़ा होता है। पुरानी कहावत है कि बाप बड़ा ना भैया, सबसे बड़ा रूपैया। आज के युग में राजनेताओं ने उसके साथ वोट को भी जोड़ लिया है, यद्यपि कुछ गुणीजनों का मत है कि मूल कहावत बिल्कुल उचित है क्योंकि वोट तो अंतिम लक्ष्य (रूपये) तक पहुँचने का माध्यम मात्र ही है।

भारत में हम अपने-आप को विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र कहते हैं और अपनी पीठ थपथपाते रहते हैं। लेकिन आंतरिक रूप से हमारा लोकतंत्र जिस प्रकार खोखला हो रहा है, उसे हम सब जानते हैं। बाहुबल, धनबल, जाति शक्ति, विभिन्न पार्टियों के आंतरिक गुटीय गणित इत्यादि के समीकरणों में उलझा हमारा लोकतंत्र अपने जीवित होने का अहसास बार-बार होते चुनावों से दिलाता रहता है। पर चुनाव संपन्न होना ही लोकतंत्र के जीवित होने की निशानी नहीं हो सकता। विश्व में जितने भी तानाशाह हुए हैं, उनमें से अधिकतर चुनावों के माध्यम से ही सत्ता के शिखर तक पहुँचे थे। लोकतंत्र और भीड़तंत्र में एक बहुत पतली विभाजन रेखा होती है। आज भारत की विभिन्न पार्टियाँ चुनाव जीतने के लिए जिस प्रकार के हथकंडे अपनाती हैं, जीतने के बाद जिस प्रकार संसद में हमारे सांसद व्यवहार करते हैं और दलों में आंतरिक मतभेदों का जिस प्रकार दमन किया जाता है, उससे लोकतंत्र की नहीं भीड़तंत्र की उपस्थिति का ही आभास होता है।

हमारे पड़ोसी पाकिस्तान में कहने को तो लोकतंत्र है और वहाँ चुनाव भी होते हैं पर उसे वास्तविक अर्थों में शायद ही कोई लोकतंत्र कहेगा। इसी प्रकार बंगलादेश में भी नाममात्र का लोकतंत्र है। अन्य विकासशील देशों में भी लोकतंत्र या तो जन्मा ही नहीं है या मतप्राय है या फिर लोकतंत्र के नाम पर एक ऐसा तमाशा होता है जिसे लोकतंत्र कहना लोकतंत्र का अपमान प्रतीत होता है।

विकासशील देशों में लोकतंत्र की दुर्दशा पर आँसू बहाने के पूर्व आधुनिक लोकतंत्र के इतिहास पर एक नज़र डालना उपयुक्त होगा। भारत के संविधान की उद्देशिका में समानता, न्याय एवं बंधुत्व की जो बात कही गयी है उसको सबसे पहले फ्रांस की क्रांति के बाद स्वीकार किया गया था। मानवाधिकारों के उच्च आदर्शों की मशाल को प्रज्वलित करने वाली इस क्रांति का स्याह पहलू यह था कि क्रांति के बाद जो शासक वर्ग सत्तासीन हुआ उसने इन आदर्शों को तिलांजलि दे दी। अपने व्यक्तिगत स्वार्थों और महत्वाकांक्षाओं हेतु फ्रांस ही नहीं समस्त मानव जाति के हितों को दाँव पर लगाने वाले इस शासक वर्ग का प्रतिनिधित्व नेपोलियन बोनापार्ट के व्यक्तित्व से होता है। नेपोलियन बोनापार्ट ने पूरे यूरोप में जो तबाही मचायी थी वह अभूतपूर्व थी। इस तबाही से यूरोप के जनमानस का लोकतंत्र पर से विश्वास लगभग उठने लगा था।

जर्मनी में नेपोलियन बोनापार्ट द्वारा की गयी तबाही से जब सब कुछ नष्ट हो चुका था, न राजा था न राजकीय सेना न कोई अन्य वैधानिक संस्थाएँ, तब इस विध्वंस की राख में से पुर्ननिर्माण करने हेतु हुम्बोल्ट नामक विचारक ने बर्लिन के विश्वविद्यालय की नींव रखी। यह विश्व का सर्वप्रथम विश्वविद्यालय था। हुम्बोल्ट ने उसी समय एक पुस्तक लिखी जिसमें उसने लोकतांत्रिक संस्थाओं की

सीमाएँ परिभाषित की। हुमबोल्ट की परिकल्पना के अनुसार निर्वाचित प्रतिनिधियों की निर्णय क्षमता पर विश्वविद्यालय के बौद्धिक समूह का अंकुश आवश्यक है। इस परिकल्पना के क्रियान्वयन पर विश्वविद्यालय शिक्षक सत्ताधीश का सेवक नहीं अपितु नियंत्रक तथा मार्गदर्शक बना। न्याय व्यवस्था तथा शासकीय अधिकारी वर्ग से विश्वविद्यालय के रिश्तों को परिभाषित तथा स्थापित करने का कार्य बर्लिन के विश्वविद्यालय एवं हुमबोल्ट ने किया। यह ऐसा क्रांतिकारी कदम था जिससे लोकतंत्र को पुनर्जीवन मिला। नेपोलियन बोनापार्ट द्वारा की गयी तबाही के बाद जर्मनी का पुनः उदय इसी हुमबोल्ट क्रांति का परिणाम था।

सत्ताधीशों का नियंत्रक तथा मार्गदर्शक बनने की विश्वविद्यालय की भूमिका को बाद में विश्व के अन्य लोकतंत्रों द्वारा भी अपनाया गया। ब्रिटेन में आक्सफोर्ड तथा कैम्ब्रिज की ऐतिहासिक प्रतिष्ठा के पीछे उनकी यही भूमिका थी। आज भी अमरीका में विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा उनमें स्थित थिंक टैंकों की राष्ट्रीय नीति निर्धारण में प्रमुख भूमिका होती है। प्रोफेसर को सामाजिक जीवन में जो उच्च स्थान ब्रिटेन, अमरीका तथा यूरोप में प्राप्त है, वह भारत, पाकिस्तान और बंगलादेश में अकल्पनीय है।

भारत तथा अन्य विकासशील देशों ने लोकतांत्रिक प्रणाली को अपनाते हुए फ्रांस की क्रांति के मूल्यों को तो अपनाया परंतु उसके बाद की हुमबोल्ट क्रांति को अपनाने की बात तो दूर, समझा भी नहीं। हुमबोल्ट क्रांति को नजरअंदाज करने के फलस्वरूप आज हमारे देश में जिस प्रकार का नेतृत्व उभर रहा है, ठीक वैसा ही नेतृत्व फ्रांस में क्रांति के बाद उभरा था। लालू और फूलन जैसा लट्ठमार नेतृत्व उस व्यवस्था का परिणाम है जिसमें सत्ताधीश सर्वशक्तिमान होता है। यह कहना गलत नहीं होगा कि भारत तथा अन्य विकासशील देशों ने लोकतंत्र के उस मॉडल को अपनाया जो यूरोप में असफल सिद्ध हो चुका था।

भारत में स्वतंत्रता के पश्चात विभिन्न विश्वविद्यालयों की स्थापना तो की गयी और कुछ हद तक पाकिस्तान और बंगलादेश के मुकाबले भारत में लोकतंत्र की सफलता का कारण विश्वविद्यालयों का अस्तित्व है किंतु हमारे राजनेताओं ने विश्वविद्यालयों को कभी सम्मानजनक स्थान नहीं दिया। नीति निर्धारण, न्यायिक नियुक्तियाँ, शासकीय अधिकारियों की नियुक्ति तथा नियंत्रण जैसे विषयों पर तो विश्वविद्यालय की भूमिका के बारे में बात करना ही बेमानी प्रतीत होता है। विश्वविद्यालय को शिक्षा की दुकान के रूप में सजाया गया है जिसमें शिक्षक की भूमिका दुकान में काम करने वाले नौकर की है। आधुनिक युग में विकास का आधार ज्ञान है तथा समाज में ज्ञान के समुचित उपयोग की आवश्यकता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पड़ती है। विश्वविद्यालय को ज्ञान के संरक्षक तथा विकास के साधन के रूप में देखने के स्थान पर हमने विश्वविद्यालय को एक कुली का दर्जा दिया जो ज्ञान को ढोने मात्र का कार्य करता है। इससे विश्वविद्यालयों को तो हानि हुई है परन्तु हमारे लोकतांत्रिक ढाँचे को उससे अधिक हानि हुई है।

स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान डॉ० राधकृष्णन जैसे विद्वान राजनीति से जुड़े थे। स्वतंत्रता के पश्चात इन्हीं के प्रयासों के फलस्वरूप विश्वविद्यालयों की स्वायत्ता जैसे विचारों को स्वीकार किया गया। विश्वविद्यालयों को मुख्यमंत्री तथा राजनैतिक दलों के हस्तक्षेप से दूर रखना भी इन्हीं के प्रयासों से संभव हो सका। किंतु ये विद्वान हुमबोल्ट क्रांति को लाने में असफल रहे थे। पचास वर्षों में विद्वान राजनेता की प्रजाति भारतीय महाद्वीप से लुप्त हो चुकी है और उसके स्थान पर लट्ठमार नेताओं की प्रजाति का उदय हुआ है जो सत्ता के मद में चूर रहती है और जिसके लिए न तो कोई मर्यादा है और न ही कोई विधि-विधान। विश्वविद्यालयों की स्वायत्ता जैसी परिकल्पनाएँ उसे मजाक प्रतीत होती हैं। कुलाधिपति के अधिकारों को राजनैतिक चश्मे से देखने वाले ये राजनेता किसी भी संस्था या परंपरा को अपने क्षुद्र स्वार्थों के आगे महत्वहीन समझते हैं।

विश्वविद्यालय किसी भी विषय पर वस्तुनिष्ठ विचार-विमर्श हेतु संस्थागत संरचना प्रदान करते हैं। इस संरचना को समाप्त करने से अथवा कमजोर करने से राष्ट्रीय हितों को जो हानि हो सकती है उसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। आजकल युद्ध केवल मैदान पर नहीं लड़ा जाता, युद्ध जन-जन के मानस पर भी लड़ा जाता है। ज्ञान के संरक्षक विश्वविद्यालय मानस पर लड़े जाने वाले युद्ध के लिए आवश्यक संरचना के समान होते हैं। विश्वविद्यालयों की प्रतिष्ठा के धूमिल होने से संशयवाद का उदय होता है जिससे जनता को सब सही लगता है और सब गलत लगता है। राजनैतिक दल तो राष्ट्रीय सुरक्षा जैसे विषय को भी चुनावी लाभ-हानि के चश्मे से देखते हैं। इससे उपजे आस्था के संकट को समझना लट्ठमार नेताओं की नयी पीढ़ी के लिए संभव नहीं है। पर सत्य यह है कि आस्था के इस संकट से ना केवल भारत अपितु पाकिस्तान एवं बांगलादेश सहित सभी विकासशील देश जूझ रहे हैं।

जिस समाज में शिक्षक भैंस को अक्ल से बड़ा मानने लगता है, जहाँ शिक्षक लट्ठधारी के सामने नमन करने को बाध्य होता है, जहाँ संख्या के गणित से सत्य को तोला जाता है वहाँ लोकतंत्र जीवित नहीं रह सकता। लोकतंत्र के अस्तित्व हेतु पहली शर्त एक सभ्य ज्ञानशील समाज का अस्तित्व है। आने वाले सप्ताहों में लोकसभा चुनाव की सरगर्मियों के बीच यदि कुछ विचारशील व्यक्ति राजनैतिक पार्टियों और नेताओं के सम्मुख इस संबंध में कुछ प्रश्न उठा सकें तो शायद इस संबंध में विचार-विमर्श प्रारंभ हो जिससे भीड़तंत्र की ओर बढ़ते कदमों को कुछ थामा जा सके।

२५ जुलाई, १९६६

११ चुनाव आयोग, लोकतंत्र और भस्मासुर

पौराणिक कथाओं में यह प्रसंग बार-बार आता है कि शिव जी किसी पर प्रसन्न हुए तो उसे ऐसी शक्तियाँ दे दी कि वह पूरे विश्व के लिए संकट बन गया और फिर सभी देवता इस संकट का उपाय निकालने में व्यस्त हो गये। आधुनिक युग में भोलेनाथ का अवतार हमारे वो राजनेता हैं जो बिना सोचे-समझे विभिन्न संस्थाओं और व्यक्तियों को शक्तियों से सुसज्जित करते हैं और फिर भूल जाते हैं। धीरे-धीरे वह शक्तिसंपन्न इतना विराट हो जाता है कि समस्त संतुलनों को ध्वस्त करने लगता है। ऐसा होने पर आधुनिक भोलेनाथ कसमसाते हैं और दुःखी होते हैं पर कुछ कर नहीं पाते। पिछले कुछ वर्षों में चुनाव आयोग को जो शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं, उनसे वह एक प्रकार की सुपरसरकार बन गया है। लेकिन हमारे आधुनिक भोलेनाथ इस सबसे बेखबर अपनी आंतरिक खींचतान की विकट तपस्या में संलग्न हैं।

बाल ठाकरे को छः वर्ष तक मतदान से वंचित करने के प्रश्न पर देश को पहली बार यह आभास हुआ है कि राष्ट्रपति न केवल प्रधानमंत्री की सलाह मानने को बाध्य होते हैं, उन्हें चुनाव आयोग की सलाह का भी सिर झुका कर पालन करना पड़ता है। प्रधानमंत्री जनता का प्रतिनिधि होता है और लोकसभा के प्रति जिम्मेदार होता है। चुनाव आयोग अफसरशाही का एक अंग है और किसी लाकतांत्रिक संस्था के प्रति जिम्मेदार भी नहीं होता। राष्ट्रपति को एक अफसर की सलाह से बाध्य करना राष्ट्रपति के पद का अपमान है। शायद विश्व के किसी भी अन्य देश में राष्ट्राध्यक्ष के पद का इतना अवमूल्यन नहीं किया गया होगा जितना भारत में किया गया है। राष्ट्र के सिरमौर को एक ऐसे व्यक्ति का रबर स्टैम्प बनाना जो कि न तो जनता का प्रतिनिधि है न ही जनता के प्रति उत्तरदायी है, लोकतंत्र का मज़ाक ही कहा जा सकता है।

बाल ठाकरे प्रकरण में राष्ट्रपति कार्यालय से जारी विज्ञप्ति में राष्ट्रपति पद की बची-खुची प्रतिष्ठा को भी धूमिल कर दिया गया है। समाचारपत्रों के अनुसार विज्ञप्ति में कहा गया है कि संविधान के अनुच्छेद १०३(२) के अंतर्गत राष्ट्रपति के लिए चुनाव आयोग की सलाह मानना अनिवार्य है। राष्ट्रपति कार्यालय को यह मालूम नहीं है कि इस प्रकरण से अनुच्छेद १०३ का कोई संबंध ही नहीं है। अनुच्छेद १०३ केवल सांसदों की अयोग्यता से संबंधित होता है। अनुच्छेद १०३ में मताधिकार से वंचित करने संबंधी कोई प्रावधान नहीं है। बाल ठाकरे कभी सांसद नहीं रहे और न यह प्रकरण संसदीय चुनाव से सम्बन्धित है। अतः अनुच्छेद १०३ इस प्रकरण के संदर्भ में पूर्णतः महत्वहीन है।

कानूनी स्थिति यह है कि मुंबई उच्च न्यायालय ने ७ अप्रैल १९८६ को प्रभाकर काशीनाथ कुंटे की याचिका पर डॉ० रमेश यशवंत प्रभु तथा बाल ठाकरे को लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, १९५१ की धारा १२३(३) तथा १२३(३ए) के अंतर्गत भ्रष्ट आचरण का दोषी पाया। बाल ठाकरे पर आरोप था कि १३ दिसंबर १९८७ को हुए महाराष्ट्र विधानसभा के चुनाव में विले पार्ले (मुंबई) क्षेत्र में तीन स्थानों पर डॉ० प्रभु के समर्थन में भाषण देते हुए उन्होंने हिन्दू धर्म के नाम पर वोट देने का आह्वान किया। उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध डॉ० प्रभु एवं बाल ठाकरे ने तुरंत सर्वोच्च न्यायालय में अपील दायर की। सर्वोच्च न्यायालय ने ११ दिसंबर १९९५ के अपने निर्णय के द्वारा उच्च न्यायालय के निर्णय की पुष्टि की। तत्पश्चात सजा के निर्धारण हेतु प्रकरण को लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, १९५१ की धारा ८ए(१) के अंतर्गत राष्ट्रपति को भेजा गया। उक्त अधिनियम की धारा ८ए(३) के अंतर्गत राष्ट्रपति के

लिए यह अनिवार्य है कि वे ऐसे प्रकरण पर चुनाव आयोग का मत लें तथा चुनाव आयोग के मतानुसार ही राष्ट्रपति कार्यवाही कर सकते हैं।

भारत सरकार के १७ जुलाई १९६६ के गजट में राष्ट्रपति के निर्णय की जानकारी देने वाली विज्ञप्ति प्रकाशित हुई है। राष्ट्रपति का रबर स्टैम्पनुमा रोल संविधान के अनुच्छेद १०३(२) में भी है और लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा ८ए(३) में भी है। कोई फर्क नहीं पड़ता कि रबर स्टैम्प इस अनुच्छेद के तहत लगे या उस धारा के तहत। पर देश की यह अपेक्षा तो स्वाभाविक है कि हमारा रबर स्टैम्प समझदार हो और समझे कि कब किस प्रकार उसका उपयोग हो रहा है।

अनुच्छेद १०३(२) और धारा ८ए(३) के इतिहास पर भी एक नजर डालनी चाहिए। मूलतः अनुच्छेद १०३ केवल सांसदों की अयोग्यता से संबंधित था और उसमें राष्ट्रपति की शक्तियों पर चुनाव आयोग का अंकुश इसलिए लगाया गया था कि किसी भी सांसद को राजनैतिक कारणों से अयोग्य न ठहराया जा सके। आपातकाल में बयालीसवें संविधान संशोधन अधिनियम, १९७६ के द्वारा उक्त अनुच्छेद का दायरा बढ़ाया गया और उसमें सांसदों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों द्वारा चुनाव में भ्रष्ट आचरण से सम्बन्धित अयोग्यता को भी जोड़ा गया, साथ ही चुनाव आयोग के मतानुसार राष्ट्रपति द्वारा कार्य करने की बाध्यता समाप्त कर दी गयी। आपातकाल में ही लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा ८ए को संशोधित कर वर्तमान स्वरूप दिया गया। आपातकाल की समाप्ति के बाद चवालीसवें संविधान संशोधन अधिनियम, १९७८ के माध्यम से अनुच्छेद १०३ को पुनः परिवर्तित कर उसका मूल स्वरूप यथावत बहाल कर दिया गया। किंतु गत दो दशकों में किसी का भी ध्यान लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा ८ए की ओर नहीं गया।

इंदिरा गाँधी के प्रधानमंत्रीकाल में राष्ट्रपति और चुनाव आयोग दोनों ही इंदिरा गाँधी के इशारों पर चलते थे। इंदिरा गाँधी की मुख्य समस्या अपनी पार्टी के और विपक्ष के राजनेताओं पर अंकुश रखने की थी। अनुच्छेद १०३ को व्यापक स्वरूप देकर राष्ट्रपति के माध्यम से तथा धारा ८ए के अंतर्गत चुनाव आयोग के माध्यम से उन्होंने अपने हाथ में ऐसा अस्त्र पा लिया था जिसकी मारक क्षमता किसी भी राजनीतिज्ञ के दिल में दहशत पैदा कर सकती थी। इंदिरा युग की समाप्ति के बाद कोई भी प्रधानमंत्री इतनी दूरदृष्टि और कड़ी पकड़ रखने वाला नहीं आया। आपातकाल के संविधान संशोधनों को बिना सोचे समझे पलटने से एक ऐसी स्थिति निर्मित हो गयी है कि वही मारक क्षमता अब चुनाव आयोग के पास आ गयी है और राष्ट्रपति सहित लोकतांत्रिक रूप से चुने गये सभी व्यक्ति इस महाशक्तिमान के सामने बौने नजर आने लगे हैं।

जिस प्रकार शरीर में कुछ कोषिकाओं की असाधारण वृद्धि से शरीर में कैंसर हो जाता है, उसी प्रकार लोकतांत्रिक संरचना में किसी भी संस्था के अधिकारों एवं शक्तियों में असाधारण वृद्धि पूरी संरचना को अंततः कमजोर कर देती है। संविधान के अनुच्छेद ३२४ में चुनाव आयोग को चुनावों के अधीक्षण, नियंत्रण और निर्देशन का कार्य सौंपा गया है। इस अनुच्छेद का चुनाव आयोग ने जो अर्थ लगाया है वह लगातार अधिक व्यापक होता गया है। शेषन ने इस प्रक्रिया को प्रारंभ किया और आज ऐसी स्थिति निर्मित हो गयी है कि आज चुनाव आयोग बेखौफ प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्रियों, राज्यपाल इत्यादि को प्रत्येक विषय पर निर्देश देता है। मंत्री दौरे करें या न करें, दूरसंचार के क्षेत्र में क्या नीति हो, प्रधानमंत्री स्वतंत्रता दिवस पर क्या बोलें इत्यादि अनेक विषय जिनका चुनावों से सीधा सम्बन्ध नहीं है, उनपर चुनाव आयोग आदेश जारी करता है। इन आदेशों के पीछे न कोई संवैधानिक वैधता है न कोई विधि न कोई नियम। दूरसंचार नीति के परिवर्तन से चुनावों पर कोई असर नहीं पड़ेगा पर चुनाव आयोग को आने वाली सरकार के अधिकारों के अतिक्रमण की चिंता है। यह किसी भी व्यक्ति की समझ के परे

होगा कि आने वाली सरकार के अधिकारों की चिंता का विषय चुनावों के अधीक्षण, नियंत्रण और निर्देशन के कार्यक्षेत्र में कैसे समाविष्ट होता है।

इस स्थिति के लिए हमारे राजनेता पूरी तरह जिम्मेदार हैं। अपनी अक्षमताओं एवं भ्रष्ट तौर-तरीकों के कारण आज के भारत का राजनेता ऊपर से तो अहंकार का कवच ओढ़े रहता है पर अंदर ही अंदर वह हीन भावना, असुरक्षा और दोषी भाव से ग्रसित रहता है। देश भर में नुक्कड़ की बातचीत हो या साहित्य हो या फिल्में सब ओर राजनेता को इस तरह कोसा जाता है गोया राजनेता न होते तो यह देश अत्यंत समृद्ध एवं सुखी हो जाता। इसका स्वाभाविक रूप से राजनेता की मानसिकता पर भी प्रभाव पड़ता है और वह स्वयं को समाज की आँखों से देखने लगता है। इसी कारण राजनेता अफसरशाही के सामने बौना होने लगता है। पर सत्य यह है कि लोकतंत्र राजनेता के बिना जीवित नहीं रह सकता।

शेषन ने एक टी वी विज्ञापन में अपनी दंभपूर्ण शैली में कहा था कि वे सुबह-शाम राजनीतिज्ञों को गाजर-मूली की तरह खाते हैं। यह उन्होंने तब कहा था जब वे मुख्य चुनाव आयुक्त के संवैधानिक पद पर आसीन थे और चुनावों के सुचारु रूप से संचालन के लिए जिम्मेदार थे। क्या राजनीतिज्ञों के बिना चुनाव संभव है? क्या नेताओं के बिना लोकतंत्र जीवित रह सकता है? संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियाँ लोकतंत्र को सशक्त करने के लिए हैं न कि अहंतुष्टि करते हुए संविधान की जड़ें खोदने के लिए। पौराणिक काल से जिस किसी को शक्ति प्राप्त हुई वह उसके मद में खो गया और भस्मासुर की तरह शक्ति के स्रोत का ही विनाश करने को दौड़ पड़ा। आज समय आ गया है कि चुनाव आयोग की असंतुलित शक्तियों पर अंकुश लगाया जाए अन्यथा आने वाले समय में लोकतंत्र का अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है।

१ अगस्त, १९६६

१२ संविधान समीक्षा आयोग - ना सूत ना कपास

भारत के संविधान के पचास वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में आयोजित समारोह में भारतीय संवैधानिक व्यवस्था के दो स्तंभ आपस में उलझ पड़े। एक ओर राष्ट्रपति ने संविधान में परिवर्तन का विरोध किया तो दूसरी ओर प्रधानमंत्री ने संविधान में समयानुसार एवं आवश्यकतानुसार मरम्मत करने की बात की। अटलबिहारी सरकार संविधान समीक्षा आयोग का गठन करने पर अटल है और राष्ट्रपति इसे एक खतरनाक पहल मान रहे हैं। गर्मागर्मी के माहौल में चटखारे लेने वालों को रस आ रहा है। ना सूत ना कपास, जुलाहों में लट्ठमलट्ठ की कहावत को चरितार्थ करते इस घटनाक्रम ने भारतीय राजनीति की निरर्थकता और निस्सारता को एक बार पुनः रेखांकित किया है।

संविधान में संशोधन करने के किसी भी प्रस्ताव को संसद के दोनों सदनों में दो तिहाई से अधिक बहुमत से पारित होना आवश्यक है। कुछ महत्वपूर्ण अनुच्छेदों के संबंध में संशोधन करने के लिए आधे से अधिक राज्यों के विधान मंडलों द्वारा अनुमोदन आवश्यक है। संसद और विभिन्न विधानसभाओं के वर्तमान गणित को देखते हुए आम सहमति के बिना किसी भी प्रकार का संविधान संशोधन एक दिवास्वप्न के समान है – यह बात सत्ता पक्ष और विपक्ष, दोनों को बहुत अच्छी तरह पता है। ऐसी परिस्थिति में संविधान की समीक्षा के लिए आयोग का गठन एक निरर्थक कसरत के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। आयोग की न कोई वैधता होगी न ही आयोग की अनुशंसाओं का कोई न्यायिक महत्त्व। सत्ता के गलियारों में धूल खाती फाइलों की संख्या में बढ़ोत्तरी करने से आगे बढ़कर आयोग की शायद ही कोई भूमिका हो। आश्चर्य यह है कि एक ऐसे आयोग के गठन के लिए भाजपा और उसके कुछ सहयोगी दल एड़ी-चोटी का जोर लगा रहे हैं।

राजनैतिक दलों से साधारणतः यह अपेक्षा की जाती है कि वे समाज को नये विचार और नयी दिशाएँ देंगे, नये विचारों को जन-जन तक पहुँचाएँगे तथा उन्नति एवं विकास हेतु समाज परिवर्तन के सूत्रधार का कार्य करेंगे। संविधान में व्यापक संशोधन एक ऐसा दार्ढकालिक परिवर्तन है जिसके लिए एक प्रखर, विचारवान दूरदर्शितापूर्ण नेतृत्व की आवश्यकता होती है जो नये विचारों से नयी दिशाओं में पथप्रदर्शन कर सके और परिवर्तन के लंबे दुरूह मार्ग पर चलने के लिए धैर्य और साहस से देश को प्रेरित कर सके। भाजपा नेतृत्व के पास न तो ऐसी दूरदृष्टि है, न ही नवीन विचार और न ही धैर्य एवं साहस। ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी इन कमजोरियों की पूर्ति भाजपा नेतृत्व संविधान समीक्षा आयोग के माध्यम से करना चाहता है।

केन्द्रीय विधि मंत्री राम जेठमलानी के अनुसार संविधान समीक्षा आयोग छः माह से भी कम समय में अपना कार्य पूरा कर लेगा। प्रधानमंत्री ने मोटे तौर पर यह संकेत दिया है कि आयोग अस्थायी सरकारों का हल निकाल लेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रधानमंत्री और विधि मंत्री ने यह तय कर लिया है कि वे किस प्रकार के परिवर्तनों के पक्षधर हैं और अपने विचारों पर आयोग नामक रबर-स्टैम्प लगा कर देश के सामने प्रस्तुत करना चाहते हैं। यदि यह सत्य है तो प्रधानमंत्री और विधि मंत्री को यह समझाया जाना चाहिए कि संविधान संशोधन के लिए आयोग की मोहर की नहीं संसद में बहुमत की आवश्यकता होती है। और यदि प्रधानमंत्री का उद्देश्य केवल एक राष्ट्रीय बहस की शुरुआत करना है तो इसके लिए आयोग का उपयोग न तो विधिसम्मत है और न ही लोकतांत्रिक मर्यादाओं के अनुरूप।

राष्ट्रपति उपरोक्त सभी तथ्यों से भली-भाँति परिचित हैं। वे यह भी जानते हैं कि कहीं भूले-भटके संसद के दोनों सदनों में संविधान संशोधन विधेयक दो तिहाई बहुमत पा भी जाता है तो भी वह विधेयक बिना उनके हस्ताक्षर के पारित नहीं हो सकता। अभी तो अधिनियम की रूप रेखा भी नहीं बनी और संसद में अधिनियम पेश करना तो एक दिवास्वप्न से अधिक कुछ भी नहीं है। ऐसे में बहस में भाग लेकर राष्ट्रपति ने अपने पद की गरिमा को ठेस पहुँचायी है। साथ ही बिना यह समझे कि किस प्रकार के परिवर्तन की बात हो रही है, परिवर्तन का विरोध कर, राष्ट्रपति जी ने अपना नाम इतिहास में यथास्थितिवादी, परिवर्तन-विरोधी व्यक्ति के रूप में अंकित करवा लिया है।

राष्ट्रपति की व्यक्तिगत छवि पर लगे इस आघात से कहीं गंभीर बात राष्ट्रपति द्वारा भारत की जनता की अवमानना किया जाना है। राष्ट्रपति जी ने कहा कि संविधान असफल नहीं हुआ है, हम असफल हुए हैं। हम शब्द से उनका तात्पर्य क्या है, यह स्पष्ट नहीं है। परन्तु राष्ट्राध्यक्ष होने के नाते उन्हें और केवल उन्हें भारत की जनता की ओर से बोलने का अधिकार है। अतः हम शब्द का अर्थ भारत की जनता समझना ही उपयुक्त होगा। राष्ट्रपति जी व्यवस्था की विफलता को तो स्वीकार करते हैं पर विफलता के लिए संविधान को दोषी ठहराने के स्थान पर भारत की जनता को दोषी मानते हैं। उनके कहने का भावार्थ यह है कि संविधान तो बहुत अच्छा है पर भारत के लोग ठीक नहीं हैं। इसकी तार्किक परिणति में यह कहा जाएगा कि इतने अच्छे संविधान का सदुपयोग भारत के खराब लोग नहीं कर पाये अतः अब शासन व्यवस्था चलाने के लिए विदेशियों को बुलाना चाहिए। निश्चय ही राष्ट्रपति महोदय ने विदेशियों को आमंत्रित करने की बात स्पष्ट रूप से नहीं कही। संभवतः अपने शब्दों के निहितार्थ और तार्किक परिणति के बारे में उन्होंने सोचा भी नहीं था। यदि उन्होंने बिना सोचे समझे बोला है, तो यह अत्यन्त दुखद एवं चिंतनीय है और यदि अपने शब्दों के निहितार्थ को भली-भाँति समझ कर राष्ट्रपति जी ने भारतीय जनता की अवमानना की है तो यह एक गंभीरतम विषय है जिसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

राष्ट्रपति जी को यह बात समझनी चाहिए कि यदि किसी अपंगतावश एक व्यक्ति के पैर कार के पैडल तक नहीं पहुँच पाते तो वह व्यक्ति कार में परिवर्तन करता है, अपनी टाँगों में नहीं। वह या तो कार की सीट को ऊपर-नीचे कर सकता है या अपनी अपंगता को ध्यान में रख कर विशेष रूप से निर्मित कार खरीद सकता है। वर्तमान कार के गुणगान करते हुए अपनी टाँगों का रोना रोते रहना बुद्धिमता का परिचायक न होकर हास्यास्पद ही माना जाएगा। यदि पाँच दशकों में हम अपनी संवैधानिक व्यवस्था से अपेक्षित परिणाम पाने में विफल रहे हैं तो स्पष्टतः हमारे पास एकमात्र विकल्प व्यवस्था परिवर्तन है।

आज भारतीय राजनीति मानसिक दीवालियेपन के दौर से गुजर रही है। गंभीरतम विषयों पर बहस निरर्थक बातों में उलझ कर एक मजाक बन कर रह जाती है। संविधान की समीक्षा और व्यवस्था परिवर्तन आज के समय की आवश्यकता है। परन्तु दुर्भाग्य यह है कि वर्तमान राजनैतिक दल और राजनेता इस महान कार्य के लिए अत्यन्त बौने हैं। यदि वर्तमान सत्ताधारी दल व्यवस्था परिवर्तन के प्रति ईमानदार होते तो वे ताबड़तोड़ तरीके से एक आयोग का गठन करने के स्थान पर देश के विद्वतजनों को समीक्षा के कार्य से जोड़ते। भारत तथा अन्य लोकतांत्रिक देशों के संविधान और राजनैतिक व्यवस्था की कार्यप्रणाली एवं कार्यकुशलता पर अध्ययन एवं अनुसंधान करने के लिए देश भर में प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों को अनुदान दिया जा सकता है। इन अध्ययन एवं अनुसंधान कार्यों के निष्कर्षों को संकलित तथा सम्पादित कर पुस्तक रूप में प्रकाशित कर जन-जन तक पहुँचाया जा सकता है। इन पुस्तकों से जो राष्ट्रीय बहस प्रारंभ हो उससे परिवर्तन के संबंध में एक आम सहमति का प्रयास किया जा सकता है। लेकिन यह प्रक्रिया बहुत लंबी तथा श्रमसाध्य है। हमारे राजनैतिक दलों तथा राजनेताओं में न तो इतनी दूरदृष्टि है, न इतना धैर्य, और न इतनी प्रतिबद्धता। उनकी दृष्टि तो

मात्र कल सुबह के अखबार की सुर्खियों तक जाती है, जिनमें बने रहने के लिये वे किसी न किसी बहाने गुल्मगुल्था होते हैं, निरर्थक प्रलाप करते हैं, भाषण देते हैं, वक्तव्य जारी करते हैं और यहाँ तक कि गिरफ्तार भी हो जाते हैं। बहाना कोई भी हो सकता है। बहानों की खोज लगातार चलती रहती है। अभी तो संविधान समीक्षा का बेहतरीन बहाना मिल गया है जिसके कारण विपक्ष तथा सत्ता पक्ष दोनों की बाछें खिल गयी हैं। ना सूत ना कपास जुलाहों में लट्ठमलट्ठ के इस खेल को देखती बेचारी जनता मात्र अपना सिर धुन कर रह जाती है।

३ फरवरी, २०००

१३ लोकतंत्र का कठपुतलीकरण तथा महिला आरक्षण विधेयक

भारत के राजनैतिक दलों के आकाओं का यदि बस चले तो वे भारत के होनहार वैज्ञानिकों से भेड़, कुत्ते एवं मनुष्य के संकर से एक नयी प्रजाति विकसित करवाएँ। इस नयी प्रजाति का शरीर मनुष्य का हो, दिमाग भेड़ का और स्वामीभक्ति श्वान की। इस प्रजाति का जीव न सोच सकेगा, न समझ सकेगा, स्वामी के संकेत पर हाथ ऊपर उठा देगा या भौंकने लगेगा और अगले आदेश का इंतजार करेगा। यह जीव भारत की संसद और विधानसभाओं की सदस्यता के लिए सर्वथा उपयुक्त होगा। अफसोस कि विज्ञान ने अभी इतनी प्रगति नहीं की है। अतः हमारे राजनैतिक दलों के सर्वेसर्वा कानून तथा अन्य माध्यमों का सहारा ले कर सांसद / विधायक के रूप में निर्वाचित विचारशील व्यक्तियों को उपरोक्त काल्पनिक जीव के रूप में परिवर्तित करते हैं।

वाद-विवाद और खुली चर्चा लोकतंत्र का मूल आधार है। फासिज्म एवं भीड़तंत्र में बहुमत सर्वोपरि होता है तथा अल्पसंख्यक या अल्पमतावलंबी को कुचलना पूर्णतः वैध होता है। इसके ठीक विपरीत लोकतंत्र में अल्पसंख्यकों की सुरक्षा की गारंटी दी जाती है। भारत में अल्पसंख्यक का अर्थ धार्मिक अल्पसंख्यक मान लिया गया है। परंतु अल्पसंख्यक-सुरक्षा का अर्थ बहुत व्यापक है। यदि पाँच सौ व्यक्ति एक बात को कह रहे हैं और एक अकेला व्यक्ति विपरीत बात कह रहा है तो लोकतंत्र में उस अकेले व्यक्ति की बात को सुन, उस पर विचार करना पाँच सौ व्यक्तियों के लिए आवश्यक पुनीत कर्तव्य है। लोकतंत्र तभी तक जीवित रहता है, जब तक यह संभावना हो कि पाँच सौ व्यक्ति अपने विचार बदल कर उस अकेले की बात मान लेंगे। खुले दिमाग से विचार लोकतंत्र के अस्तित्व हेतु एक आवश्यक शर्त है। इसके ठीक विपरीत फासिज्म, तानाशाही, साम्यवाद, भीड़तंत्र इत्यादि के लिए बंद दिमाग आवश्यक होता है।

पूरे विश्व में भारत एकमात्र लोकतांत्रिक देश है जहाँ सांसदों एवं विधायकों को पार्टी व्हिप का अनिवार्यतः पालन करना पड़ता है और व्हिप का उल्लंघन करने पर वैधानिक दण्ड का सामना करना पड़ता है। अमरीका में बिल क्लिंटन के विरुद्ध जब महाभियोग की कार्यवाही चली तो राष्ट्रपति की पार्टी के कुछ सांसदों ने ही राष्ट्रपति के विरुद्ध मत दिया। इस पर न कोई हल्ला मचा और न ही उन सांसदों को सदस्यता से हाथ धोना पड़ा। पार्टी ने अपने राष्ट्रपति को बचाने के लिए कोई व्हिप जारी ही नहीं किया था और यदि करती भी तो उस व्हिप की कोई संवैधानिक वैधता नहीं होती। विश्व के सभी विकसित लोकतांत्रिक देशों में यह माना जाता है कि स्वविवेक और अंतात्मा के आधार पर सांसद को गुण-दोष का निर्णय करना चाहिए तथा इस संबंध में उस पर कोई राय थोपना या उसे मजबूर करना लोकतंत्र की हत्या करने के समान है।

इसके विपरीत भारत में पार्टियाँ हर छोटे-बड़े मसले पर सांसदों एवं विधायकों को व्हिप जारी करती हैं। शायद ही कोई ऐसा कानून बना हो जिस हेतु पार्टी व्हिप की सहायता के बिना विधेयक पारित हो गया हो। राष्ट्रपति का चुनाव हो या प्रधानमंत्री के पक्ष में विश्वास मत या संविधान संशोधन – कोई भी पार्टी अपने सांसदों पर विश्वास नहीं करती और चाबुक से उन्हें पशुवत हाँकती है। व्हिप जारी करने की राजनैतिक दलों की आंतरिक प्रक्रिया पूर्णतः अलोकतांत्रिक होती है। व्हिप जारी करने के संबंध में किसी प्रकार की लोकतांत्रिक प्रक्रिया अपनाने की कोई वैधानिक बाध्यता नहीं है। यदि यह मान भी लिया जाए के सदन में दल के सदस्यों के बहुमतानुसार ही सचेतक व्हिप जारी करता है तो भी अल्पमत के विचार वाले सदस्यों को अपनी अंतात्मा एवं विवेक के विरुद्ध बोलने एवं मत देने को बाध्य

करना लोकतंत्र की भावना के विरुद्ध है। पर भारतीय लोकतंत्र इस तरह की भावनात्मक बातों से बहुत आगे बढ़ चुका है। भारत में कुछ मुट्ठी भर नेता पार्टी के बहुसंख्यक सांसदों एवं विधायकों पर अपना मत थोपते हैं और सम्माननीय निर्वाचित सदस्यगण अपनी अक्ल को ताक पर रख भेड़ और स्वामीभक्त श्वान के मिले जुले स्वरूप को अंगीकृत कर सदन को शोभायमान करते हैं।

पिछले दिनों लोक सभा में महिला आरक्षण विधेयक पेश किया गया। लोक सभा के लगभग तीन चौथाई सदस्य निजी स्तर पर इस विधेयक के विरोध में मत रखते हैं। यदि विभिन्न राजनैतिक दल इस के पक्ष में व्हिप जारी नहीं करते हैं तो यह विधेयक पारित होने की कोई संभावना नहीं है। परन्तु राजनैतिक दलों के व्हिप के सहारे से ऐसा प्रतीत होता है यह विधेयक जोरदार बहुमत से पारित हो जाएगा। लोकतंत्र के नाम पर संसद में खेला जा रहा यह हास्यास्पद एवं शोचनीय नाटक विश्व में अद्वितीय है। यदि सांसद को न तो सोचने का अधिकार है, न समझने का और न ही मत व्यक्त करने का तो संसद में बहस निरर्थक लफ्फाजी बन जाती है। बहस तभी तक सार्थक हो सकती है, जब बहस में भाग लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपना मत परिवर्तन करने का पूर्ण अधिकार हो। खूंटों से बंधे पशु बहस नहीं करते, भौंकते, गुर्राते, रँभाते, रिरियाते हैं और कभी-कभी दुलत्ती झाड़ते हैं और कभी मौका मिलने पर नोचते-काटते हैं।

यदि मत निर्धारण का अधिकार सांसदों को नहीं है तो संसदीय व्यवस्था चालू रखने का भी कोई औचित्य नहीं है। लगभग साढ़े पाँच सौ विचारशून्य व्यक्तियों की निरर्थक लफ्फाजी के स्थान पर यह उचित होगा कि सभी राजनैतिक दलों के अध्यक्ष बैठ कर चर्चा करें तथा मत गणना हेतु प्रत्येक राजनैतिक दल के अध्यक्ष के मत का महत्वांक उस दल के सांसदों की संख्या के आधार पर तय हो। इससे चर्चा की सार्थकता भी बढ़ेगी और देश एक बहुत बड़े आर्थिक बोझ से भी बचेगा।

महिला आरक्षण के नाम पर महिलाओं को सत्ता में भागीदारी देने की जो बात की जा रही है, वह देश की महिलाओं के साथ एक धोखा है। हमारे देश के नेता और राजनैतिक दल इस प्रकार के शिगूफे छोड़ जनता का ध्यान अपनी अक्षमताओं से हटाने का प्रयास करते रहते हैं। संसद और विधानसभा की एक तिहाई सीटों पर महिलाओं के सुशोभित होने से लगभग डेढ़-दो हजार महिलाओं के वेतन-भत्ते की व्यवस्था तो हो जाएगी पर इसे सत्ता में भागीदारी नहीं कहा जा सकता। जहाँ दो तिहाई से अधिक सांसद तथा विधायक अपने पूरे कार्यकाल में सदन में एक शब्द भी न बोलते हों, जहाँ तीन चौथाई से अधिक सांसद तथा विधायक अपने पूरे कार्यकाल में कोई एक विधेयक भी पूरी तरह न पढ़ते हों, वहाँ सत्ता में भागीदारी एक लुभावने नारे के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

मार्क्स ने कभी लोकतंत्र को नकारा नहीं था पर सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की बात की थी, जिस का सहारा लेकर स्टालिन एक क्रूर तानाशाह बन गया था। भारत के राजनेताओं ने भी लोकतंत्र के गुणगान करते हुए पार्टी तानाशाही की ऐसी व्यवस्था की रचना की है जिसमें व्यक्ति गौण हो जाता है। यह गौण हुआ व्यक्ति चेहराविहीन, विचारशून्य, विवेकशून्य हो जाता है। ऐसा कठपुतलीनुमा व्यक्ति पुरुष हो या स्त्री – कोई फर्क नहीं पड़ता है। पर भारतीय संदर्भों में प्रायः स्त्री ज्यादा अच्छी कठपुतली सिद्ध होती है और पुरुष का पारंपरिक पौरुष कभी-कभी जाग उठता है। अतः सभी पार्टियों का नेतृत्व चाहता है कि सदन में महिलाओं का प्रतिशत बढ़ाया जाए।

यदि वास्तव में राजनैतिक पार्टियाँ महिलाओं को सत्ता में भागीदारी देने के प्रति ईमानदार होती तो कठपुतलीनुमा सांसदों एवं विधायकों में महिलाओं की संख्या बढ़ाने के स्थान पर पार्टी संगठन में उच्च पदों पर महिलाओं की संख्या बढ़ाने के उद्देश्य से कानून बनाया जाता। काँग्रेस ने पार्टी संगठन में तैंतीस प्रतिशत पद महिलाओं को देने की घोषणा भी की थी, पर काँग्रेस उस पर कायम नहीं रह पाई।

भाजपा ने इस संबंध में कोई घोषणा ही नहीं की। सत्ता के स्रोत पर अपना एकाधिकार कायम रखते हुए कठपुतलियाँ बदलने की साजिश का नाम महिला आरक्षण विधेयक है।

जिस प्रकार दूध के लिए रोते बच्चे को अफीम चटा देने से समस्या तात्कालिक रूप से हल हो जाती है, उसी प्रकार हमारे राजनैतिक दल और राजनेता देश की जनता को नारों की अफीम चटाते रहते हैं। महिला आरक्षण उसी प्रक्रिया का एक अंग है। तात्कालिक लाभ के लिए राजनैतिक दल फासिज्म और कठपुतलीवाद के एक ऐसे मिश्रित स्वरूप को स्थापित कर रहे हैं जिसके परिणाम भयावह होंगे।

जिस देश के नीति निर्धारक मनुष्य के शरीर में भेड़ का दिमाग और श्वान की स्वामीभक्ति रखते हों, उस देश में लोकतंत्र एक हास्यास्पद एवं दुखद रस्म बन कर रह जाता है। नीति निर्धारक पुरुष हो या स्त्री – यह महत्वहीन बात है। महत्वपूर्ण बात यह है कि नीतिनिर्धारक का दिमाग विचारशील मनुष्य का है या भेड़ और श्वान का और साथ ही महत्वपूर्ण यह भी है कि नीतिनिर्धारक स्वविवेक से निर्णय लेने को स्वतंत्र है या नहीं। आने वाले वर्षों में जो चुनौतियाँ देश के सामने आने वाली हैं, उनका सामना करने के लिए हमारा प्रयास होना चाहिए कि सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ, सर्वगुणसम्पन्न व्यक्ति चाहे वे पुरुष हों या स्त्री, चाहे वे किसी भी जाति के हों संसद एवं विधानसभाओं में पहुँचे तथा वहाँ पहुँच कर कठपुतली की तरह कार्य न करें। यदि हम ऐसा कर सके तो आने वाली शताब्दी हमारी होगी और इसके स्थान पर यदि हम जाति और लिंग आधारित विभेदों पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करते हुए लोकतंत्र को कठपुतलीतंत्र में परिवर्तित करते रहे तो हमें मनुष्य तन के होते हुए भी पशुवत जीवन व्यतीत करने को तैयार रहना होगा, क्योंकि यथा राजा तथा प्रजा।

३१ दिसंबर, १९६६

१४ भारतीय राजनैतिक दल और मुसलमान

मोहब्बत और नफरत – दोनों अन्धी होती हैं और दोनों ही इन्सान को दीवाना बना देती हैं। इन जज्बातों की गिरफ्त में जकड़ा इन्सान न कुछ सोच सकता है, न समझ सकता है, न जी सकता है और न ही मर सकता है। मोहब्बत या नफरत में कैद होना बहुत आसान है पर इस कैद से रिहाई बहुत कठिन होती है। कैदी तड़पता रहता है, रिहाई की दुआ करता है पर रिहा होने के स्थान पर इन भावनाओं के जंजाल में अधिकाधिक उलझता जाता है। हिन्दुस्तान के राजनैतिक दलों के भारतीय मुसलमानों के साथ कुछ ऐसे ही रिश्ते बन गये हैं। या तो मोहब्बत है या नफरत – अंधी भावनाओं का सैलाब है पर समझदारी थोड़ी भी नहीं है। न तो राजनैतिक दल मुसलमानों को समझना चाहते हैं और न ही मुसलमान राजनैतिक दलों की गहराई तक पहुँच पाते हैं। एक स्वस्थ संबंध के स्थान पर एक ऐसा रिश्ता उभरा है जिसमें नारों और लफ्फाजी से दोनों एक दूसरे का शोषण करने के प्रयास में उलझ गये हैं।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद जब अंग्रेजों ने तुर्की के खलीफा के साम्राज्य को छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट कर खलीफा की शक्तियों में कटौती की, तो इससे भारत के कुछ मुसलमान उद्वेलित हो गये और उन्होंने खिलाफत आंदोलन प्रारंभ किया। भारत की धरती से पाँच हजार किलोमीटर दूर स्थित तुर्की के खलीफा के पक्ष में खड़े होने वाले इन चंद मुसलमानों को महात्मा गाँधी ने जोरदार समर्थन दिया और असहयोग आंदोलन का आव्हान किया। खिलाफत आंदोलन और उसके नेताओं की हवा तब निकल गई जब तुर्की की जनता ने खलीफा का पद ही समाप्त कर दिया।

खिलाफत आंदोलन भावनाओं पर आधारित एक ऐसा आंदोलन था जिसका भारतीय मुसलमानों की तरक्की और खुशहाली से कुछ लेना देना नहीं था। सच तो यह है कि इसका इस्लाम से भी कुछ लेना-देना नहीं था। खलीफा एक राजनैतिक व्यक्ति थे और उनका ओहदा पैगंबर या धर्मगुरु का कतई नहीं था। खलीफा के साम्राज्य में कटौती से इस्लाम का सूर्यास्त नहीं हुआ और न ही होने की कोई संभावना थी। इसके बावजूद इस विषय पर भारतीय मुसलमानों को भड़का कर दो-तीन मुसलमानों ने स्वयं को भारतीय मुसलमानों का नेता घोषित कर दिया और काँग्रेस ने उन्हें समर्थन प्रदान कर वैधता प्रदान कर दी।

खिलाफत आंदोलन से शुरू होकर बाबरी मस्जिद तक यही कहानी दोहराई जाती रही है। बंबईया फिल्मों के फार्मूले की तरह यह फार्मूला बहुत सरल है। किसी-ना-किसी निरर्थक विषय पर मुसलमानों को भड़काया जाता है; यह प्रचारित किया जाता है कि इस्लाम खतरे में है; प्रचार करने वाले इस्लाम के स्वभू ठेकेदारों को मुसलमानों में व्यापक मान्यता मिले या न मिले, कुछ हिन्दू नेता उनके समर्थन में खड़े होकर अपने-आप को धर्मनिरपेक्ष घोषित कर देते हैं; इस्लाम के स्वयंभू ठेकेदार मुस्लिम नेता के रूप में स्थापित हो जाते हैं एवं उनके समर्थक हिन्दू नेता सर्वमान्य राष्ट्रीय नेता के रूप में स्थापित हो जाते हैं। नेतागिरी की दुकान जमाने के इस फार्मूले को पिछले आठ दशकों में कई बार आजमाया गया है। महात्मा गाँधी द्वारा ईजाद किये गये इस फार्मूले पर काफी लंबे समय तक काँग्रेस का पेटेंट रहा पर पिछले दो दशकों में उस एकाधिकार को तोड़ अन्य दलों ने भी अपनी दुकानदारी जमाई है।

नेतागिरी, दुकानदारी और ठेकेदारी जमाने की इस आठ दशक लंबी कहानी में सबसे अधिक अहित भारतीय मुसलमानों का हुआ है। पिछले आठ दशकों में वह लगातार पिछड़ता चला गया है। शैक्षणिक,

आर्थिक, सामाजिक – प्रत्येक दृष्टि से पिछले आठ दशकों में भारतीय मुसलमान की प्रगति की दर अन्य धर्मावलंबियों के मुकाबले धीमी रही है।

भारतीय समाज के बहुसंख्यक वर्ग के नेताओं द्वारा अल्पसंख्यक वर्ग के कट्टरपंथी नेताओं को समर्थन व मान्यता देने के कारण अल्पसंख्यकों में सुधारवादी एवं नरमपंथी नेताओं के उभरने की संभावनाएँ ही समाप्त हो गयी। यदि किसी अल्पसंख्यक समुदाय के कुछ मुट्ठी भर लोग भड़काऊ, उग्रवादी, कट्टरपंथी मानसिकता के हैं और ठीक उतने ही लोग नरमपंथी, प्रगतिवादी, समझौतावादी, समन्वयवादी प्रवृत्ति के हैं, तो जिस भी दल को बहुसंख्यक वर्ग का समर्थन प्राप्त हो जाएगा, उस दल की शक्ति असीमित रूप से बढ़ जाएगी। यही कारण है कि बहुसंख्यक वर्ग के नेताओं द्वारा खिलाफत आंदोलन जैसे निरर्थक विचारों का समर्थन करने से मुसलमानों में प्रगति और आधुनिकता की बात करने वाले वर्ग की आवाज दब कर रह गयी है। इसी के फलस्वरूप द्विराष्ट्र सिद्धांत को बल मिला था और इसी के फलस्वरूप बाबरी की समस्या का समझदारीपूर्ण हल निकालने की राह में अवरोध उत्पन्न हुए।

स्वतंत्रता के बाद इस काँग्रेसी फार्मूले को जनसंघ और बाद में भारतीय जनता पार्टी ने तुष्टिकरण की संज्ञा दी और व्यापक विरोध किया। तुष्टिकरण शब्द से यह आभास होता है कि किसी को संतुष्ट किया जा रहा है। जनसंघ और भाजपा ने तुष्टिकरण शब्द के चयन से ही काँग्रेसी कार्यकलापों को मुसलमानों में वैधता प्रदान कर दी। मुसलमानों को यह लगा कि काँग्रेस उन्हें कुछ देना चाहती है और भाजपा मुसलमानों से कुछ छीनना चाहती है। इससे एक ओर तो मुसलमानों और काँग्रेस के बीच मोहब्बत की शुरुआत हुई और दूसरी ओर भाजपा एवं मुसलमानों के बीच नफरत का रिश्ता स्थापित हो गया।

आज भारतीय मुसलमान यह अनुभव करता है कि दिल्ली और समस्त राज्यों में उसके तथाकथित शुभचिंतकों के लगभग पाँच दशकों तक सत्तासीन रहने के बावजूद वह प्रगति की दौड़ में लगातार पिछड़ता जा रहा है। पिछड़ने की पीड़ा के कारण उसका काँग्रेस से मोहभंग होता है तो वह काँग्रेसी फार्मूला के किसी अन्य संस्करण को अपना लेता है और कुछ समय बाद समस्त राजनैतिक दलों को कोसता हुआ आँसू बहाता है।

दिल्ली में सत्तासीन होने के बाद भारतीय जनता पार्टी के नेताओं ने तुष्टिकरण विरोध का राग अलापना बंद कर मुसलमानों में पैठ बनाने के छुटपुट प्रयास किये हैं। परन्तु उन्हें दो कठिनाईयों का सामना करना पड़ रहा है। एक ओर तो पिछले पाँच दशकों की घनीभूत नफरत है और दूसरी ओर भाजपा नेताओं में मुसलमानों के बारे में जानकारी का नितांत अभाव है। कई भाजपा नेता तो यह भी नहीं जानते कि मोहर्रम पर शिया शोक करते हैं या सुन्नी या दोनों। ज्ञान के अभाव में विवेकशून्य हो जाना स्वाभाविक है। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि पिछले दो-तीन वर्षों में ऐसा प्रतीत हुआ है कि भाजपा भी काँग्रेस के फार्मूले को अपना कर मुसलमानों से संबंध जोड़ना चाहती है। मुसलमानों के नरमपंथी, सुधारवादी, प्रगतिवादी नेताओं, विचारकों और विद्वानों से संवाद और मित्रता स्थापित करने के स्थान पर भाजपा भी उन्हीं कट्टरपंथी इस्लामी धर्मगुरुओं के सामने साष्टांग होती दिखाई दे रही है जिनके दरबार में काँग्रेसी आदाब अर्ज करते थे।

इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण पिछले दिनों भोपाल में देखने को मिला। मुसलमानों में बोहरा समाज अत्यंत छोटा सम्प्रदाय है, जिसके प्रमुख सैयदना एक समानान्तर सरकार के रूप में कार्य करते हैं। प्रत्येक बोहरा के जीवन से मृत्यु के प्रत्येक पहलू पर सैयदना की कड़ी पकड़ रहती है। सैयदना के विरोध में पिछले लगभग दो दशकों से डा. असगर अली इंजीनियर संघर्षरत हैं। डा. असगर अली सम्पूर्ण विश्व में नरमपंथी इस्लाम के पक्षधर के रूप में प्रख्यात हैं। वे द्विराष्ट्र सिद्धांत के विरोधी हैं और इस्लामी हिंसा तथा उग्रवाद को इस्लामी मानने से इन्कार करते हैं। वे तलवार के बल पर

धर्म-परिवर्तन को गैर-इस्लामी मानते हैं। वे हिन्दुओं को काफिर कहने का भी विरोध करते हैं और हिन्दुओं को अहले-किताब मानते हैं। वे हिन्दू मूर्तिपूजा की तुलना सूफी सम्प्रदाय में शोख के प्रति भक्ति से करते हैं और ब्रम्ह एवं अल्लाह को एक समान मानते हैं। काश्मीर में पाकिस्तान द्वारा घोषित जेहाद को वे किसी भी प्रकार की मजहबी मान्यता देने से इन्कार करते हैं।

सैयदना और डा० असगर अली के विपरीत व्यक्तित्वों का टकराव पिछले दिनों इन्दौर में हुआ। भोपाल से मुम्बई जाने वाला विमान इन्दौर होकर जाता है। डा० असगर अली इस विमान में भोपाल से बैठे तथा सैयदना इन्दौर से आने वाले थे। सैयदना को विमानतल पर पहुँचने में कुछ विलंब हुआ और उनके समर्थकों के दबाव के कारण विमान को इन्दौर में नियत समय से अधिक रोका गया। देरी के विरोध में डा० असगर अली ने विरोध-प्रदर्शन किया। इससे रुष्ट हो सैयदना के विरोधियों ने मुम्बई पहुँचने पर डा० असगर अली पर कातिलाना हमला किया तथा उनके घर में व्यापक तोड़-फोड़ की।

आश्चर्य तो तब हुआ जब अगले दिन एक लिखित वक्तव्य में भाजपा मध्यप्रदेश के अध्यक्ष ने डा० असगर अली को 'इतिहास के स्वयंभू ठेकेदार डा० अजगर इंजीनियर' की संज्ञा दी और कहा कि 'दाऊदी बोहरा समाज के धर्मगुरु और उनके साथियों के साथ की गयी हिंसक कार्यवाही के लिये डा० अजगर इंजीनियर की जितनी निन्दा की जावे कम है'। इतना ही नहीं भाजपा ने 'डा० अजगर अली' के विरुद्ध आपराधिक मामला स्थापित करने की भी माँग की। स्वयं को इतिहासकार घोषित करने वाली एक भाजपा नेत्री ने बिना तथ्यों को जाने, समाचारपत्रों के आधार पर डा० असगर अली को गौरी और गजनवी का पक्षधर बताते हुए एक पत्रकार वार्ता में खूब विषवमन किया। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि काँग्रेस तथा भाजपा में सैयदना के अधिकाधिक हितचिंतक दिखने की प्रतियोगिता चल रही थी।

कट्टरपंथी, रूढ़िवादी मुसलमान नेताओं को समर्थन देना और सुधारवादी मुसलमान नेताओं को गालियाँ देना – ऐसा लगता है कि इस प्रतियोगिता में काँग्रेस, समाजवादी पार्टी, जनता दल इत्यादि के साथ अब भाजपा भी बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेने लगी है। भारत का एवं भारतीय मुसलमानों का इससे बड़ा दुर्भाग्य शायद कोई और नहीं हो सकता कि रूढ़ियों में जकड़े, शिक्षा से वंचित, प्रगति की दौड़ से बाहर खड़े मुसलमान को अंधा बनाये रखने के लिए देश के प्रतिष्ठित राजनैतिक दल प्रतियोगिता कर रहे हैं। हे प्रभु, हे खुदा, भारत के राजनेताओं को सदबुद्धि देना। पिछले आठ दशकों के इतिहास से इन्होंने कुछ नहीं सीखा है और ये उसके सबसे काले अध्यायों को दोहराने की भूमिका तैयार कर रहे हैं। न ये मोहब्बत के काबिल हैं, न नफरत के योग्य – विचारशून्य, विवेकशून्य, इतिहासबोध से वंचित ये बेचारे तो अपने क्षुद्र स्वार्थों के मायाजाल में उलझे हुए पुराने पिटे हुए फार्मूले पर लकीर पीटने को बाध्य हैं। काश! यह बात भारत का आम मुसलमान समझ पाता और नेताओं के छल-प्रपंच से ऊपर उठ कर प्रगति एवं खुशहाली के पथ पर अपने हिन्दू भाइयों के साथ कंधे से कंधा मिला कर आगे बढ़ सकता।

२४ फरवरी, २०००

१५ लालू, शबनम मौसी तथा भारतीय राजनीति का विदूषकीकरण

किसी शायर ने कहा है कि दर्द का हृद से गुजर जाना है दवा हो जाना। दर्द तभी तक होता है जब तक आशा, अपेक्षा और उम्मीद का दामन थामा होता है। एक बार यह दामन छूटा तो न कोई गिला होता है, न शिकवा, न शिकायत – फिर न दर्द होता है और न दवा की आवश्यकता होती है। भारतीय राजनीति अब उस दौर में प्रवेश कर गयी है जहाँ जनता को नेताओं से न कोई आशा है, और न कोई अपेक्षा है, इसीलिए नेताओं से कोई गिला, शिकवा, शिकायत भी नहीं है। राजनेताओं के द्वारा रचित शब्दों के लुभावने मायाजालों की वास्तविकता को समझने के बाद उसे कुछ वर्ष पूर्व तक मोहभंग का दर्द हुआ करता था। परन्तु अब जनता इतना दर्द सह चुकी है कि उसे दर्द का आभास भी नहीं होता। इस स्थिति में वह शब्दों के मायाजाल को हास्य-विनोद की वस्तु के समान लेती है। इस नये दौर में चुनाव मज़ाक बन गये हैं, राजनैतिक सभाएँ जनता के मनोरंजन के लिए आयोजित तमाशा बन गयी हैं, सांसद, विधायक और जनप्रतिनिधि मसखरे बन कर जनता का मनोरंजन करने का प्रयास करने में तल्लीन हैं। यह भारतीय राजनीति के विदूषकीकरण का युग है। राजनीति के विदूषकीकरण की प्रक्रिया का प्रारंभ राजनेताओं द्वारा ही किया गया था। लालू और शबनम मौसी नामक किन्नर तो उस प्रक्रिया की परिणति मात्र हैं।

स्वतंत्रता के पूर्व भारत की राजनीति संघर्ष, त्याग और बलिदान पर आधारित थी। उस काल में राजनीति में प्रवेश का अर्थ समस्त सुखों को त्याग दुःख-तकलीफ को गले लगाना हुआ करता था। अतः राजनीति में प्रवेश करने वाले को सम्मान से देखा जाता था और उसकी योग्यता, क्षमता एवं प्रतिभा के बारे में कोई प्रश्न नहीं उठाया जाता था। स्वतंत्रता के पश्चात राजनीति का स्वरूप बदला। जेल जाने वाले और पुलिस की लाठियाँ खाने वाले सत्तासीन हो गये। अब राजनीति को संघर्ष, त्याग और बलिदान की नहीं, मानसिक एवं वैचारिक प्रतिभा तथा प्रबंधन क्षमता की आवश्यकता थी। होना तो यह चाहिए था कि स्वतंत्रता पूर्व के राजनेताओं की पीढ़ी अपनी अक्षमताओं एवं कमजोरियों को पहचान कर नयी पीढ़ी के प्रतिभावान, क्षमतावान एवं योग्य व्यक्तियों को राजनीति में स्थापित करने में सहायता कर अपने जीवन का सर्वोच्च त्याग करती। इसके स्थान पर स्वतंत्रता प्राप्त होते ही तत्कालीन राजनेताओं ने एक ओर तो अपने तथा अपने परिवार के लिए अधिकतम सुख-सुविधाएँ, धन-संपत्ति बटोरने का प्रयास किया और दूसरी ओर सुशोभित मंचों से संघर्ष, त्याग और बलिदान के लंबे-लंबे भाषण जनता को पिलाने का क्रम जारी रखा।

किसी भी स्वतंत्र स्थिर देश में राजनीति का प्रमुख उद्देश्य देश के प्रशासन, प्रबंधन एवं संचालन हेतु योग्य व्यक्तियों को तैयार करना होता है। संघर्ष, त्याग एवं बलिदान की साधारणतः एक स्थिर लोकतांत्रिक राष्ट्र में कोई आवश्यकता नहीं होती। सत्ताधारी दल और विपक्ष, दोनों सत्ता से प्राप्त होने वाले सुख-सुविधाओं का लाभ उठाते हैं और बदले में देश को कुशल नेतृत्व, प्रबंधन एवं प्रशासन देते हैं। किंतु भारतीय राजनीति में राजनेता एक ऐसे प्राणी के रूप में उभरा जिसको किसी योग्यता की आवश्यकता नहीं। वह सुविधाएँ भोगना तो जानता है परन्तु उसके बदले में न तो कुशल नेतृत्व दे सकता है, न प्रबंधन और न ही उचित प्रशासन। वह सुविधाओं और सत्ता-सुख के बदले में समाज को केवल नारों एवं लच्छेदार भाषणों की अफीम चटाता है। जनता उसका भाषण सुनती है तो ताली पीटती है और अपने समस्त गम भुला कर खुश होती है। पिछले पाँच दशकों में भारतीय राजनीति में कई शब्दों के जादूगर आये और जनता ने उन्हें सिर आँखों पर उठाया।

स्वतंत्रता की लड़ाई में काँग्रेस ने अग्रणी भूमिका अदा की थी। अतः स्वाभाविक ही था कि स्वतंत्रता के पश्चात काँग्रेस प्रमुख राजनैतिक दल बन कर उभरती। विचारविहीन, कर्मविहीन खोखले शब्दों को उछाल जनता को छलने का क्रम काँग्रेसी नेताओं ने ही प्रारंभ किया। छलने की इस कला को शब्दों के साथ-साथ अन्य सभी प्रकार के बिम्बों, प्रतीकों, लटकों-झटकों इत्यादि के प्रयोग से काँग्रेस ने एक उदात्त रूप दिया। जवाहरलाल नेहरू का लाल गुलाब, नेहरू जी का बच्चों के प्रति प्रेम, इंदिरा गाँधी का गरीबी हटाओ, इंदिरा गाँधी का सिर पर पल्लू लेना इत्यादि उस कला के विभिन्न रूप थे। यह मानना पड़ेगा कि जवाहरलाल नेहरू और इंदिरा गाँधी इस कला में पूर्णतः सिद्धहस्त थे और उन्होंने भारत की जनता को पूरी तरह अपने मायाजाल के बंधन में बाँधे रखा। इसी परंपरा को निचले स्तर के काँग्रेसी नेताओं ने अपनाया और अपने-अपने ढंग से जनता को मूर्ख बनाने के तरीके ईजाद किये। ऊँचे आदर्शों, लुभावने नारों, मनभावन सपनों को सुंदर भाषणों में पिरो सकने वाले नेता बन गये तथा नेता बनने के लिए अन्य किसी प्रकार की योग्यता, क्षमता एवं प्रतिभा की आवश्यकता नहीं रह गयी।

भारतीय जनसंघ एक वैचारिक आधार लेकर भारतीय राजनीति में आया था। जनसंघ से भारतीय जनता पार्टी और फिर एक सत्ताधारी पार्टी बनने के सफर में मूल वैचारिक आधार लगातार कमजोर होता चला गया। साथ ही एक और बहुत महत्वपूर्ण अंतर आया। जनसंघ का यह प्रयास होता था कि योग्य, प्रतिभावान व्यक्ति पार्टी में आयें। एक विद्वान को राष्ट्रीय अध्यक्ष बनाने का प्रयोग जनसंघ ने ही किया था। योग्य, सक्षम, प्रतिभावान व्यक्तियों को पार्टी की ओर आकर्षित कर उन्हें विकास की संभावनाएँ उपलब्ध कराना जनसंघ की विशेषता थी। लेकिन धीरे-धीरे यह विशेषता समाप्त होती चली गयी और आज तो यह स्थिति है कि भाजपा में योग्यता, प्रतिभा एवं क्षमता का कोई विशेष स्थान नहीं रह गया है।

शब्दों की जादूगरी की नेहरू-इंदिरा परंपरा को अटलबिहारी ने आगे बढ़ाया है। बिना किसी शक या शुभहा के यह कहा जा सकता है कि उनकी बराबरी कर सकने वाला शब्द-शिल्पी आज भारतीय राजनीति में कोई नहीं है। जिस प्रकार बरसात के मौसम में पतंगे रोशनी की ओर आकर्षित होते हैं, उसी प्रकार अटल जी की सभाओं में लाखों की संख्या में लोग खिंचे चले आते हैं। सभा के बाद सब के मुँह पर एक ही वाक्य होता है, 'वाह, मजा आ गया'। जनता को मजा दिलाने अर्थात् जनता का मनोरंजन करने की अटल जी की अद्वितीय क्षमता के कारण एक ओर तो अटल जी की अन्य क्षमताएँ तथा योग्यताएँ नेपथ्य में चली गयी हैं और दूसरी ओर पूरी भारतीय जनता पार्टी तथा कुछ हद तक पूरा संघ परिवार अपने समस्त सिद्धांतों एवं नीतियों को ताक पर रख कर अटल जी के सामने नतमस्तक होने को विवश हो गया है। यह प्रक्रिया मात्र अटलजी तक ही सीमित नहीं है। राष्ट्रीय स्तर पर तथा प्रत्येक राज्य और जिले में कुछ ऐसे लोग उभर आये हैं जो मजमा लगाने में निपुण हैं, जिनके भाषणों पर जनता ताली पीटती है, जिनमें से कुछ तो शालीनता की सीमाएँ लाँघ कर जनता का मनोरंजन करते हैं। दुःख की बात यह है कि आदर्शों, सिद्धांतों, योग्यता एवं प्रतिभा की बात करने वाले जनसंघ की उत्तराधिकारी भारतीय जनता पार्टी इन मजमा जमाने वालों की दासी बन कर रह गयी है।

भाजपा, काँग्रेस और समस्त राजनैतिक दलों में अब दो ही प्रकार के लोगों के लिए स्थान रह गया है – मजमा जमाने वाले तथा उनके प्रशस्ति गीत गाने वाले चरण एवं भांड। आम जनता में यह धारणा बन गयी है कि राजनेता एक ऐसा बेकार विचारशून्य प्राणी होता है जो या तो लच्छेदार भाषण देता है या भाषण देनेवालों की चरण पादुका उठाता है। इसके अतिरिक्त राजनेता से कोई अपेक्षा ही नहीं होती। उपरोक्त धारणा को बलवती बनाने में प्रत्येक दल ने योगदान किया है। अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं जब सत्ताधारी दल ने पूर्णतः अयोग्य, प्रतिभाहीन व्यक्ति को केवल उसकी स्वामीभक्ति के कारण सर्वोच्च पद से सुशोभित किया। ऐसे उदाहरण भी उपलब्ध हैं जब नेताजी ने अपने नाई को एक

विभाग की सलाहकार समिति का सदस्य मनोनीत करवा दिया और ऐसे भी कि नेताजी का वाहनचालक पार्षद, विधायक या सांसद बन गया। स्वाभाविक ही है कि जनता के मन में राजनैतिक दलों और राजनेताओं के प्रति आस्था, श्रद्धा और विश्वास समाप्त हो गया है।

आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास की समाप्ति के बाद राजनेता के भाषण मात्र एक मनोरंजक स्वांग बन कर रह जाते हैं और राजनेता एक मसखरा या विदूषक बन जाता है। ऐसी स्थिति में चुनाव विदूषकों के बीच में प्रतियोगिता बन जाते हैं। जो जितना अधिक मनोरंजन करे, उसके चुनाव जीतने की उतनी अधिक संभावना। पहले यह प्रतियोगिता केवल राजनेताओं के बीच हुआ करती थी। अधिकाधिक लोकप्रिय होने की चाह में राजनेता अधिकाधिक विदूषक बनते गये। लालू यादव ने अपना राजनैतिक जीवन छात्र राजनीति से प्रारंभ किया था और धीरे-धीरे विदूषकीय शैली एवं हाव-भाव को अपना कर समस्त अन्य राजनेताओं को पटकनी दे दी। राजनीति के विदूषकीकरण के फलस्वरूप पेशेवर नट, अभिनेता, मसखरे, बहुरूपिये इस क्षेत्र को ललचायी निगाहों से देखने लगे। राजनेताओं ने उनका स्वागत कर राजनीति के विदूषकीकरण को और अधिक गति प्रदान की।

मध्यप्रदेश में एक हिजड़े शबनम मौसी का विधायक के रूप में और एक अन्य हिजड़े कमला का महापौर के रूप में चुना जाना राजनीति के विदूषकीकरण की प्रक्रिया की परिणति है। इसे लोकतंत्र की जीत या पिछड़े वर्गों का सशक्तिकरण कहने वाले न तो लोकतंत्र को समझते हैं और न ही सशक्तिकरण की प्रक्रिया को समझते हैं। कमला और शबनम मौसी का कोई वैचारिक धरातल नहीं है। उनके पास न कोई एजेंडा है, न नेतृत्व करने की क्षमता और न ही नेतृत्व प्रदान कर समाज का विकास करने की इच्छा। पर कमला और शबनम मौसी नाच सकते हैं, गा सकते हैं, जनता का मनोरंजन कर सकते हैं और यह सब करते हुए झूठे आदर्शों एवं मूल्यों की दुहाई नहीं देते। वे विशुद्ध विदूषक हैं और बिना किसी भेद-भाव के, बिना किसी लाग-लपेट के सबका मनोरंजन करते हैं और साथ में देते हैं ढेर सारी शुभकामनाएँ। स्पष्ट है कि बेचारे राजनेता उनका मुकाबला नहीं कर पा रहे।

फिर भी कमला और शबनम मौसी के निर्वाचित होने में भारतीय लोकतंत्र के लिए एक शुभ संदेश छिपा है। यह भारतीय राजनीति के विदूषकीकरण की अंतिम पराकाष्ठा है। रात का अंधेरा जब सबसे घना होता है, तभी सूर्योदय होता है। भारतीय राजनीति लगातार अर्थहीन होते हुए अंधकारमय होती चली गयी है। पहले राजनेता विदूषक बना और अब विदूषक ही राजनेता बन बैठा है। यह देश और लोकतंत्र के लिए घोर अंधकार की घड़ी है। पर इसी अंधकार में आने वाले सूर्योदय की संभावनाएँ छिपी हैं। किसी शायर ने ठीक ही कहा है कि दर्द का हृद से गुजर जाना है दवा हो जाना।

१० मार्च, २०००

१६ मूर्ख ब्राम्हण की कथा तथा भारतीय राजनैतिक दल

एक ब्राम्हण को दान में बछड़ा मिला और उसे कंधे पर उठाये वह अपने गाँव जा रहा था। रास्ते में चार ठगों ने योजना बनायी और बारी-बारी से उस ब्राम्हण के पास गये। पहले ठग ने उस बछड़े को बकरी बताया, दूसरे ने कुत्ता, तीसरे ने भैंस का पाड़ा और चौथे ने सूअर बताया। पंडित जी घबरा गये और उस बछड़े को जमीन पर पटक दिया और घर भाग लिए। साधारणतः यह कहानी यहीं समाप्त हो जाती है और अंत में बच्चों को बताया जाता है कि इस कहानी से हमें यह शिक्षा मिलती कि किसी की कही बात पर ध्यान नहीं देना चाहिए।

पर कहानी यहाँ समाप्त नहीं होती है। आगे की कहानी कुछ इस प्रकार है। कुछ दिनों में जब यह कहानी पूरे गाँव में फैल गयी और लोग पंडित जी की मूर्खता पर हँसने लगे तो पंडित जी को बहुत गुस्सा आया। पंडित जी ने कहानी की शिक्षा को हृदयंगम कर लिया और तय किया कि अब वह किसी की कुछ भी नहीं सुनेंगे। उनके इस निश्चय की बात भी दूर-दूर तक फैल गयी। गाँव के एक व्यक्ति को मसखरी सूझी। उसने पंडित जी को श्रद्धापूर्वक बुलाया, यज्ञ करवाया और तत्पश्चात एक बकरी के बच्चे को बछड़ा कहकर दान में दे दिया। पंडित जी ने उस तथाकथित बछड़े को कंधे पर उठाया और चल दिये। राह में जिस किसी ने उनसे कहा कि पंडित जी आपने बकरी का बच्चा उठा रखा है तो पंडित जी उससे झगड़े और उसे खूब गालियाँ दी। फिर तो यह क्रम ही चल पड़ा। लोग ब्राम्हण को बुलाते, यज्ञ कराते और बाद में कोई भी जानवर उठा कर दे देते। बकरी, गधा, बिल्ली, कुत्ता, सूअर इत्यादि घरेलू जानवरों से प्रारंभ होकर बात सियार, तेंदुए और मगरमच्छ के बच्चे तक पहुँच गयी। पूरा गाँव हँसता रहता और पंडित जी मगरमच्छ के बच्चे को भी बछड़ा ही समझते। पंडित जी का घर एक अच्छा खासा चिड़ियाघर बन गया। कहा जाता है कि अंततः उनके घर पल रहे उन तथाकथित बछड़ों में से एक ने पंडित जी को उदरस्थ कर इस कहानी का अंत किया।

पता नहीं यह अतिशयोक्तिपूर्ण कहानी कितनी सच्ची है और कितनी झूठी। पर यह निश्चित है कि उस काल्पनिक ब्राम्हण की आत्मा का कुछ अंश हमारे देश के राजनैतिक दलों के सर्वोच्च नेताओं में अवश्य आया है। ये प्रतिष्ठित महानुभाव जब किसी को सिर पर उठाए होते हैं तो उसके विरुद्ध कुछ भी सुनने को तैयार नहीं होते। पूरा देश कहने लगता है कि जिसे आप कंधे पर उठाए हुए हैं वह मंगलकारी न हो कर अनिष्टकारी है पर राजनैतिक दलों के आका तब तक नहीं चेतते जब तक उनके सिर पर सवार व्यक्ति उनके अस्तित्व के लिए ही खतरा नहीं बन जाता।

पिछले दिनों काँग्रेस नेतृत्व ने गमांग को और भाजपा ने कल्याण सिंह को सिर से उतारा। गमांग की नियुक्ति के समय ही मालूम था कि प्रशासनिक दृष्टि से गमांग की कार्यकुशलता संदिग्ध होगी। उनके छोटे से कार्यकाल के प्रारंभ से ही उड़ीसा में उनकी आलोचना आरंभ हो गयी थी। भयावह तूफान आने के बाद जिस प्रशासनिक कसावट की आवश्यकता थी, उसके स्थान पर गमांग एक ढीले-ढाले नेता के रूप में उभरे। पूरे उड़ीसा में लोग गमांग से नफरत करने लगे। धीरे-धीरे स्थिति यहाँ तक आ गयी कि गमांग के प्रति जनक्रोध काँग्रेस के विधायकों पर बरसने लगा। उड़ीसा के समस्त काँग्रेसी विधायकों को अपना राजनैतिक जीवन संकट में लगा और वे खुलकर विद्रोह की मुद्रा में आ गये। विधायकों का विद्रोह इतना तीक्ष्ण था कि यदि उसके बाद भी काँग्रेस का शीर्ष नेतृत्व गमांग को पदच्युत नहीं करता तो शायद उड़ीसा में काँग्रेस का नामोनिशान मिट जाता। इस गंभीर स्थिति बनने के कई दिन बाद काँग्रेस के शीर्ष नेतृत्व ने गमांग को पद से हटाने का निर्देश दिया।

दूसरी ओर उत्तरप्रदेश में कल्याणसिंह की कार्यशैली और प्रशासनिक क्षमताओं को लेकर काफी लंबे समय से उंगलियाँ उठने लगी थीं। एक मुख्यमंत्री के रूप में कल्याणसिंह की एकमात्र सफलता यह थी कि राजनैतिक समीकरणों में संतुलन बिठा कर वह अपनी कुर्सी बचाने में सफल रहे। उनकी प्रशासनिक अक्षमता, मध्ययुगीन सामंती मानसिकता, दूरदृष्टि का अभाव तथा अहंकारपूर्ण कार्यशैली किसी से छिपी नहीं थी। उनके अवगुणों के बारे में कई लोगों ने भाजपा के सर्वोच्च नेतृत्व को उस समय भी चेतावनी दी थी जब कल्याणसिंह को भाजपा के बाहर कोई नहीं जानता था। कल्याणसिंह के मुख्यमंत्री बनने के बाद तो चेतावनी और शिकायतों का यह सिलसिला बढ़ कर एक रेला बन गया। कल्याणसिंह ने उत्तरप्रदेश के विकास को अवरुद्ध कर दिया, सभी लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं को ताक पर रख कर एक मदमाते हाथी की तरह निरंकुश शासन किया तथा आम चर्चा है कि कल्याणसिंह ने सैकड़ों करोड़ की सम्पत्ति एकत्र कर ली है। भाजपा नेतृत्व कल्याणसिंह के इन सभी दोषों एवं अपराधों को लगातार नजरअंदाज करता रहा और शायद आगे भी करता रहता। पर कल्याणसिंह ने सत्ता के मद में एक गलती कर दी। जिस प्रकार भस्मासुर शिव के पीछे दौड़ पड़ा था, उसी प्रकार कल्याणसिंह ने अटलबिहारी को चुनौती दे दी। कल्याणसिंह की समस्त आसुरी गतिविधियों को नजरअंदाज करने वाले भाजपा के भोलेनाथ का तीसरा नेत्र तभी खुला जब पिछले लोकसभा चुनाव में लखनऊ संसदीय क्षेत्र में उन्हें अपने राजनैतिक जीवन पर खतरा मंडराता महसूस हुआ। यह कैसी विडंबना है कि भाजपा ने कल्याणसिंह के विरुद्ध जो कार्यवाही की है, उसमें कल्याणसिंह के केवल एक अपराध का जिक्र है कि उन्होंने अटलबिहारी के विरुद्ध मुँह खोला।

गमांग हो या कल्याणसिंह, भाजपा हो या काँग्रेस – समस्या एक ही है और वह है राजनैतिक दलों में आकलन एवं मूल्यांकन की क्षमताओं एवं व्यवस्थाओं का नितांत अभाव। भारत के लगभग सभी राजनैतिक दलों में प्रतिभा, योग्यता, क्षमता, कार्यकुशलता, विद्वता इत्यादि मापदण्डों के संबंध में विचार-विमर्श भी प्रायः समाप्त हो गया है। अग्रेजी में एक कहावत है कि किसी भी संगठन में प्रत्येक व्यक्ति अंततोगत्वा अपनी अक्षमता के उच्चतम स्तर को प्राप्त होता है। भारतीय राजनीति में यह कहावत अक्षरशः सिद्ध होती है। विभिन्न मजबूरियों और दबावों के वशीभूत हो व्यक्ति तब तक पदोन्नत किया जाता है जब तक उसकी क्षमताहीनता, अयोग्यता, दुर्गुण इत्यादि सबको दिखने न लगे और असहनीय न हो जाएँ। राजनैतिक पदोन्नति में न तो प्रशिक्षण के माध्यम से योग्यता एवं क्षमताएँ बढ़ाने का प्रावधान होता है और न ही योग्य व्यक्तियों को पहचानने का प्रयास होता है। कई बार इसका विपरीत अवश्य होता है। योग्यता एवं प्रतिभा की जरा सी भी झलक दिख जाने पर प्रताड़ित किया जाता है क्योंकि यह आशंका होती है कि प्रतिभावान व्यक्ति स्थापित गुटीय व्यवस्था एवं वरिष्ठता के समीकरणों को तहस-नहस कर देगा। स्वाभाविक है कि ऐसी परिस्थिति में भारत के समस्त राजनैतिक दलों में सर्वोच्च पदों पर (अपवादों को छोड़) ऐसे लोग पहुँच गये हैं जो उस पद के लिए अयोग्य हैं। समस्या यह है कि यही व्यक्ति जो अपने अहंकार के कवच से अपनी क्षमताहीनता को छुपाने का प्रयास करते हुए बौरा रहे हैं, दूसरों की योग्यता का आकलन और मूल्यांकन करते हैं।

भाजपा और काँग्रेस में रोग तो एक ही है पर रोग की प्रकृति में कुछ अंतर है। काँग्रेस की निजी स्वार्थ पर आधारित जंगल राज संस्कृति में न कोई स्थायी सम्माननीय होता है और न कोई स्थायी श्रद्धेय। काँग्रेसी निजी लाभ के गणित के आधार पर सम्मान एवं श्रद्धा की मात्रा तय करते हैं। इसका दूसरा पहलू यह है कि काँग्रेस में अच्छे परिणाम की आशा में योग्य बाहरी व्यक्ति को स्वीकार कर लिया जाता है और काँग्रेसी बड़े से बड़े व्यक्ति को घूरे पर फेंकने में देर नहीं करते। इसके ठीक विपरीत भाजपा में घूरे पर फेंकने की प्रक्रिया लगभग नहीं है और साथ ही योग्य बाहरी व्यक्ति को स्वीकार करने में सहजता भी नहीं है। काँग्रेसी संस्कृति में कुछ संभावना होती है कि क्षमताहीन व्यक्ति को घूरे पर फेंक

दिया जाएगा पर भाजपा में ऐसा बहुत कम होता है। अनुशासन, सम्मान तथा श्रद्धा के जिस ताने-बाने से भाजपा और संघ परिवार का ढाँचा खड़ा किया गया है, वह तभी खड़ा रह सकता है जब उसमें प्रतिभा, योग्यता तथा क्षमता के सही आकलन और मूल्यांकन के मापदण्ड और प्रक्रियाएँ स्थापित हों।

अभी तक भारत की राजनीति में राजनेताओं की भूमिका परिणामकेन्द्रित नहीं थी। राजनेता विभिन्न अवसरों पर शोभायमान होते थे और उनकी उपयोगिता वहीं समाप्त हो जाती थी। पर जैसे-जैसे हमारा लोकतंत्र परिपक्व हो रहा है, जनता की अपेक्षाएँ बढ़ रही हैं। आने वाली सदी में जनता राजनेताओं एवं राजनैतिक दलों से उच्चस्तरीय कार्यकुशलता की अपेक्षा करेगी। आंध्रप्रदेश के चुनाव परिणामों ने यह संकेत दे दिया है कि लुभावने नारों और लच्छेदार भाषणों पर आधारित राजनीति का युग बीत चुका है।

हल चलाने की बाध्यता न होने पर न तो बैल की आवश्यकता होती है, न ही बछड़े की – किसी भी पशु को प्रतीकात्मक रूप से बैठा कर यज्ञ, अनुष्ठान इत्यादि पूर्ण हो सकते हैं। पिछले पाँच दशकों में भारतीय राजनीति यही करती आई है और अब भारतीय राजनीति के ब्राम्हणरूपी वरिष्ठजन बछड़े, बैल और अन्य पशुओं में अंतर करने की सामर्थ्य ही खो बैठे हैं। इसके दो खतरे हैं – एक ओर तो आगामी सदी में जनता मात्र शोभावस्तु के रूप में नेताओं को स्वीकार नहीं करेगी जिससे इन राजनैतिक दलों के सामने अस्तित्व का संकट खड़ा हो जाएगा। दूसरी ओर जिन पशुओं को मात्र शोभावस्तु के रूप में स्थापित किया गया, वे स्थापित करने वाले ब्राम्हण को ही उदरस्थ करने को अग्रसर हो सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के राजनैतिक दलों के सर्वोच्च नेता दूसरे खतरे के प्रति तो सचेत हैं, पहले के प्रति नहीं। मूर्ख ब्राम्हण की कहानी से हमारे सर्वोच्च राजनेताओं ने शिक्षा ली है कि पहले तो किसी की कही बात पर ध्यान नहीं देना चाहिए और दूसरा कि उदरस्थ होने से बचना चाहिए। काश! उस कहानी का सही मर्म कोई हमारे नेताओं को समझा पाता।

१२ दिसंबर, १९९९

१७ पाकिस्तान - विखण्डित मानसिकता वाला देश

विभिन्न मनोरोगों में सबसे अधिक चर्चित रोग विखण्डित मानसिकता अथवा सिजोफरेनिया का है। विखण्डित मानसिकता का रोगी प्रारंभिक अवस्था में दो अथवा अधिक विपरीत मानसिकताओं को अपने मानस में समेटे हुए सामान्य व्यक्ति की तरह जीवनयापन करता है। जैसे – जैसे समय गुजरता जाता है, उसका आंतरिक संघर्ष उसके व्यवहार को असामान्य बना देता है। रोग की गंभीर अवस्था में व्यक्ति उचित –अनुचित, हित–अहित जैसे सामान्य तार्किक निर्णय लेने में असमर्थ हो विक्षिप्त व्यवहार करने लगता है। अपने जन्म से ही विरोधाभासों को समाहित करने वाला पाकिस्तान आज विखण्डित मानसिकता की गंभीर अवस्था में पहुँच गया है।

धर्म के आधार पर जन्म लेने वाला पाकिस्तान विश्व का पहला ऐसा आधुनिक राष्ट्र था जिसका न कोई इतिहास था और न कोई सांस्कृतिक पष्ठभूमि। उत्तरप्रदेश, बिहार और मुंबई के जिन मुसलमानों ने पाकिस्तान के जन्म में मुख्य भूमिका निभाई थी, उनमें से अधिकतर ने पाकिस्तान जाने की जगह भारत में ही रहना स्वीकार किया। जन्म का मुख्य श्रेय तो अंग्रेजों को ही जाता है जिन्होंने इस्लाम के प्रति प्रेम भाव से नहीं, अपितु द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद उनकी नजर में जो उनके हित थे उन हितों को साधने के लिए पाकिस्तान को जन्म दिया। अपने जन्म के बाद से ही पाकिस्तान ने अंग्रेज और अमरीकी हितसाधन में भरपूर सहयोग दिया। विरोधाभासों के जिस पुलिंदे का अमरीका और ब्रिटेन अपने स्वार्थों के लिए उपयोग कर रहे थे, उस पुलिंदे के अंतर्विरोध लगातार बढ़ते जा रहे थे। उन अंतर्विरोधों को सुलझाने हेतु पाकिस्तान में न तो शक्ति थी न व्यवस्थाएँ। अमरीका और ब्रिटेन तो आंतरिक विरोधाभासों पर ही अपने स्वार्थ की रोटियाँ सेंक रहे थे। परिणामस्वरूप जन्म के समय पाकिस्तान में जो अंतर्विरोध सूक्ष्म रूप में उपस्थित थे, वे बढ़ते गये और आज लगभग पाँच दशकों बाद पाकिस्तान विखण्डित मानसिकता की गंभीर अवस्था के मनोरोगी की तरह हो गया है।

पंजाब, सिंध, बलूचिस्तान और उत्तर–पश्चिमी सीमांत प्रदेश को जोड़कर पाकिस्तान बना है। पाक अधिकृत काश्मीर पाकिस्तान के उपनिवेश की तरह है, पाकिस्तान के अंग के रूप में नहीं। सिंध, बलूचिस्तान और उत्तर–पश्चिमी सीमांत प्रदेश ने आज तक स्वयं को पाकिस्तान के अंग के रूप में मन से स्वीकार नहीं किया है। सिंध में 'ना खपे पाकिस्तान' (पाकिस्तान नहीं चलेगा) का नारा यदा–कदा सुनाई पड़ जाता है या दीवारों पर लिखा दिख जाता है। पंजाब को छोड़ पाकिस्तान के सभी प्रान्तों को ऐसा महसूस होता रहता है कि वे पंजाब के उपनिवेश हैं और एक शासक वर्ग उनका शोषण कर रहा है। अपने नागरिकों में पाकिस्तान न तो शासन तंत्र में सहभागिता का भाव उत्पन्न कर पाया है और न ही राष्ट्र से एकीकृत होने का भाव। पाकिस्तान से असंतोष केवल क्षेत्रीय आधार पर ही नहीं है। सभी अल्पसंख्यक चाहे वो शिया मुसलमान हों, या अहमदिया, या ईसाई या हिन्दू, पाकिस्तान में दोयम दर्जे की जिन्दगी जीने को मजबूर हैं और पाकिस्तान के जन्म को अपने लिए श्राप मानते हैं। पाकिस्तान का जन्म भारतीय मुसलमानों के देश के रूप में हुआ था लेकिन विभाजन के समय जो मुट्ठी भर मुसलमान भारत से पाकिस्तान गये, उनके साथ आज तक सौतेला व्यवहार होता है और उन्हें मोहाजिर कह कर प्रताड़ित किया जाता है। यह किसी की भी समझ के परे है कि जिस देश को अपने अवयवों और बाशिदों को एकजुट रखने में दिक्कत आ रही है, वह देश जम्मू–कश्मीर जैसे पिछड़े प्रदेश को अपने में मिलाने को इतना आतुर क्यों हैं। कश्मीर में प्राकृतिक सुंदरता के अतिरिक्त न तो कोई प्राकृतिक संसाधन है, न कृषि और न ही उद्योग। भारत के लिए कश्मीर कोई दुधारू गाय नहीं है। भारत

सरकार के बजट में कश्मीर से आय लगभग शून्य और व्यय एक पहाड़ के समान है। ऐसे कश्मीर के सम्बंध में जनभावनाएँ भड़काने तथा विश्व स्तर पर पाँच दशकों तक हो-हल्ला मचाने के पाकिस्तान के निर्णय को कतई विवेकपूर्ण नहीं कहा जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि कश्मीर संबंधी पाकिस्तानी नीति पाकिस्तान के अस्तित्व में निहित अंतर्विरोधों को सबसे मुखर रूप से रेखांकित करती है।

एक धर्म के रूप में इस्लाम के अरब राष्ट्रीय आन्दोलन से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहे हैं। इस्लाम को अरब संस्कृति से अलग कर के देखना शायद संभव ही नहीं है। पाकिस्तान की जनता का स्वाभाविक झुकाव भारत की ओर है न कि पाकिस्तान के पश्चिमी पड़ोसियों की ओर। यहाँ तक कि बलूचिस्तान (जो ईरान की सीमा पर स्थित है) में भारतीय फिल्म संगीत ईरानी संगीत की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय है। लाहौर हो या पेशावर या कराची, वहाँ के आम आदमी की रुचि भारत की घटनाओं में होती है, बगदाद, काहिरा और काबुल की घटनाओं में नहीं। हजारों सालों के रिश्तों को ब्रिटिश संसद के एक विधेयक द्वारा मिटाया नहीं जा सकता। पाकिस्तान की जनता का सदियों प्राचीन अरब राष्ट्रीय आन्दोलन से कोई सरोकार नहीं है। पाकिस्तान के अस्तित्व में निहित सबसे बड़ा अंतर्विरोध यही है। एक ओर तो पाकिस्तान की जनता भारत और हर भारतीय चीज से स्वयं को जुड़ा हुआ पाती है, दूसरी ओर एक राष्ट्र के रूप में उनकी सामूहिक चेतना उन्हें भारत से अलग अपने व्यक्तित्व को उचित सिद्ध करने को बाध्य करती है। अपने अस्तित्व के औचित्य को सिद्ध करने के प्रयासों के कारण ही पाकिस्तान सदा स्वयं को इस्लामी सिद्ध करना चाहता है। कहते हैं कि नया मुल्ला जोर से अल्लाह-अल्लाह बोलता है। उसी तरह अरब राष्ट्रीय आंदोलन और अरब संस्कृति से जुड़े देशों से भी अधिक पाकिस्तान इस्लाम का असली शुभचिंतक बनने का प्रयास करता है। दूसरी ओर एक सामान्य पाकिस्तानी न तो कट्टरपंथी है, न उग्रवादी है और साधारणतः एक कट्टर मुसलमान भी नहीं है।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अधिकाधिक लोग पाकिस्तान को एक ऐसे दुष्ट राष्ट्र के रूप में देखने लगे हैं जो पूरे विश्व के उग्रवादी संगठनों को आश्रय और मदद देता है। पाकिस्तान के विभिन्न शहरों में अतिवादी कट्टरपंथी गुटों की बड़ी रैलियों इत्यादि के समाचारों से पाकिस्तानी समाचारपत्र भरे रहते हैं। लेकिन सच यह भी है कि कोई भी अतिवादी संगठन या उनकी कठपुतली पार्टी पाकिस्तान में कोई चुनाव नहीं जीत सकती है। किसी भी आम चुनाव में सभी अतिवादी संगठनों एवं दलों को सामूहिक रूप से कुल मत्तों का पाँच प्रतिशत भी नहीं मिला है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पाकिस्तान की पन्चान्धे प्रतिशत जनता शांतिप्रिय है और सम्भवतः चाहती है कि उनके देश को धर्मान्ध तत्वों से मुक्ति प्राप्त हो जाए। नीति-निर्धारक संस्थाओं एवं सेना में धर्मान्ध तत्वों की घुसपैठ एवं मुख्यधारा के राजनैतिक दलों द्वारा कट्टरपंथी तत्वों का खुलकर मुकाबला करने से संकोच के कारण ही ऐसी स्थिति निर्मित हुई है कि मुट्ठी भर अतिवादियों के तीखे शोर में पाकिस्तान के बहुसंख्यक समझदार शांतिप्रिय लोगों की आवाज दबकर रह गई है।

जिस समय अमरीका एवं पश्चिमी यूरोप साम्यवाद नामक तथाकथित महादानव से युद्ध कर रहे थे, उस समय सोवियत यूनियन और चीन के पिछवाड़े में स्थित पाकिस्तान की उनके लिए अत्याधिक उपयोगिता थी। पाकिस्तान की धर्मान्ध शक्तियों के लिए भी साम्यवाद एक घोषित शत्रु था। साम्यवाद का मुकाबला करने लिए पश्चिमी यूरोप और अमरीका ने पाकिस्तान की धर्मान्ध शक्तियों के कंधे पर रखकर बंदूक चलाई। आज बंदूक भी वही है और कंधा भी वही है पर बंदूक की दिशा बदल गई है और निशाने पर वही देश है जिन्होंने कंधे पर बंदूक रखी थी। साम्यवाद के धराशाही होने के बाद महादानव के पिछवाड़े में स्थित होने से उपजी पाकिस्तान की उपयोगिता अब समाप्त हो चुकी है। आज के विश्व का नया महादानव कट्टरपंथी, धर्मान्ध इस्लामी उग्रवादी गुट हैं और पाकिस्तान इस नये महादानव का संरक्षक

और आश्रयदाता बन गया है। कमजोर सरकारी व्यवस्थाएँ और साथ ही स्वयं को इस्लामी सिद्ध करने की समाज की सामूहिक इच्छा ने कट्टरपंथी ताकतों के पनपने हेतु एक उपजाऊ जमीन तैयार की है। सुगमता से उपलब्ध हथियारों तथा नशीली दवाओं की तस्करी से प्राप्त धन ने इस उपजाऊ जमीन में खाद का काम किया है। पाकिस्तान सरकार ने शेर की सवारी यह सोच कर की थी कि वे शेर का वशीकरण मंत्र जानते हैं। अमरीका ने भी अफगानिस्तान युद्ध के समय पाकिस्तान की इस दुस्साहसपूर्ण कार्यवाही का समर्थन किया। अब शेर ने विशालकाय रूप ले लिया है और वह न केवल पाकिस्तान, अपितु सम्पूर्ण विश्व की शांति, सुरक्षा और समृद्धि के लिए सबसे बड़ा खतरा बन गया है। ओसामा बिन लादेन इस विशालकाय महादानव का एक पहलू मात्र है। यद्यपि ओसामा बिन लादेन की समाप्ति एक वांछनीय लक्ष्य हो सकता है, परन्तु यह समझना आवश्यक है कि ओसामा बिन लादेन की समाप्ति से महादानव का अंत नहीं होगा। परे विश्व और स्वयं पाकिस्तान की समृद्धि हेतु यह आवश्यक है कि इस महादानव को समूल नष्ट किया जाए।

पाकिस्तान की नजरों में सबसे बड़ी समस्या कश्मीर है। विश्व के अधिकाधिक देशों की नजरों में सबसे बड़ी समस्या पाकिस्तान स्वयं है। जिस प्रकार विखण्डित मानसिकता के मनोरोग से ग्रसित व्यक्ति अपनी समस्याओं को समझने तथा तार्किक विश्लेषण करने की शक्ति खो देता है, उसी प्रकार पाकिस्तान एक देश के रूप में न तो अपनी स्थिति को समझ रहा है और न ही अपनी वास्तविक समस्याओं को। पाकिस्तान के आकार, जनसंख्या एवं संसाधनों वाले देश का इस प्रकार विवेकशून्य हो व्यवस्थाविहीन अवस्था की ओर बढ़ना पूरे विश्व के लिए एक गंभीर संकट एवं खतरा है। यह अत्यावश्यक है कि विश्व नेतृत्व यह समझे कि समस्या कश्मीर या भारत-पाक संबंधों की नहीं है। समस्या एक ऐसे देश की है जो स्वयं से जूझ रहा है, जिसके अंतर्विरोधों ने उसके विवेक और बुद्धि को नष्ट कर दिया है। समस्या यह है कि पाकिस्तान के कुछ लोगों के दिलो-दिमाग पर एक दानवीय शक्ति ने कब्जा कर लिया है और पाकिस्तान की बहुसंख्यक आबादी भेड़-बकरियों की तरह चुपचाप खड़ी आश्चर्यचकित हो तमाशा देखने को मजबूर है। लगभग छः दशक पूर्व जर्मनी में भी ऐसा ही हुआ था और उसके भयावह परिणाम पूरे विश्व ने भुगते थे। अब समय आ गया है कि विश्व नेतृत्व इतिहास से सबक लेकर पाकिस्तान की शांतिप्रिय जनता की नये महादानव से रक्षा करे। पाकिस्तान और संपूर्ण विश्व की सुरक्षा, शांति एवं समृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि पाकिस्तान की सरकार तथा नेताओं को दरकिनार कर वहाँ पनपती विषबेल को बेरहमी से कुचल दिया जाए।

५ अक्टूबर, १९९९

१८ भूमि के लिए नहीं सिद्धांतों के लिए लड़ें

युद्ध में लक्ष्मण के मूर्छित होने पर भगवान राम विचलित हो गये। उन्हें युद्ध निरर्थक जान पड़ने लगा। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता – का मनोभाव एक ओर था और साथ ही दूसरी ओर जैहउँ अवध कौन मुहु लाई, नारि हेतु प्रिय भाई गँवाई। प्रत्येक युद्ध में इस प्रकार का निर्णायक क्षण आता है जब प्रिय भाई की आसन्न मृत्यु से विचलित होने पर यह प्रश्न उठता है कि किस हेतु प्रिय भाई को गँवाया जा रहा है। कारगिल और बटालिक में चल रहे घमासान युद्ध के संबंध में भी कुछ इसी प्रकार के प्रश्न जनमानस पर उभरने लगे हैं।

लगभग प्रतिदिन कुछ सैनिक अधिकारियों एवं कर्मियों के शहीद होने का समाचार सुनने को मिलता है। चाहे भटिण्डा हो या भोपाल या रीवा – हर शहर में किसी-ना-किसी शहीद की अंतेष्टि पूरे सैनिक सम्मान के साथ की गयी है। पर सैनिक सम्मान के पीछे छिपी हैं कुछ भीगी पलकें, कुछ यादें और कई प्रश्न।

विभाजन के बाद से ही काश्मीर की समस्या भारत और पाकिस्तान के बीच लगातार सुलगती रही है। भारत ने काश्मीर समस्या को एक संपत्ति विवाद की तरह लिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि काश्मीर नामक एक खेत के लिए पिता के देहांत के बाद दो लालची भाई लड़ रहे हैं और एक दूसरे के खून के प्यासे हो रहे हैं। लेकिन काश्मीर कोई निर्जीव संपत्ति नहीं है। काश्मीर एक जीवंत राज्य है जिसमें सदियों से लोग रहते आये हैं, जिसकी अपनी विशिष्ट पहचान और संस्कृति है। भारत ने पाँच दशकों से अधिक समय तक काश्मीर की भूमि पर अपना आधिपत्य कायम रखने के लिए लगातार प्रयास किये हैं परन्तु भारत ने काश्मीर की आत्मा, दिल और दिमाग को जीतने का कोई प्रयास नहीं किया।

इसके ठीक विपरीत पाकिस्तान ने काश्मीर समस्या को सदा एक समग्र दृष्टिकोण से देखा है। पाकिस्तान के काश्मीर के प्रति दृष्टिकोण को समझने के लिए हमें पाकिस्तान के अस्तित्व की मूल अवधारणा को समझना होगा। इस्लाम आधारित राष्ट्रवाद पाकिस्तान के निर्माण और निरंतर अस्तित्व की आवश्यक शर्त है। यदि पाकिस्तान धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक व्यवस्था को अपना लेता है तो पाकिस्तान के स्वतंत्र अस्तित्व का औचित्य ही समाप्त हो जाएगा। पाकिस्तान का राजनैतिक नेतृत्व इस बात को बखूबी समझता है इसीलिए इस्लाम आधारित विचारधाराओं को पोषित करता रहता है।

किसी भी विचारधारा के अंतर्राष्ट्रीय प्रसार से विचारधारा के अगुआ देश को कई लाभ मिलते हैं तथा साथ ही उस अगुआ देश में वह विचारधारा और अधिक सशक्त होती है। विश्व में कई ऐसे देश हैं जहाँ मुसलमान बहुसंख्यक हैं किंतु पाकिस्तान एकमात्र ऐसा देश है जिसका अस्तित्व इस्लामी राष्ट्रवाद के सिद्धांत पर टिका है। इसलिए विश्व में इस्लामी राष्ट्रवाद की विचारधारा का अगुआ बनना पाकिस्तान की मजबूरी है। यदि विश्व में इस्लामी राष्ट्रवाद का सिद्धांत सशक्त होता है, उसे व्यापक मान्यता मिलती है तो इससे पाकिस्तान भी सशक्त होगा और यदि विश्व में इस्लामी राष्ट्रवाद का सिद्धांत कमजोर होता है तो इससे पाकिस्तान भी कमजोर होगा। चाहे काश्मीर हो, चाहे अफगानिस्तान, चाहे अमरीका ही क्यों न हो – पाकिस्तान इस्लामी राष्ट्रवाद की विचारधारा के प्रश्रयदाता की अपनी भूमिका को पूरी तरह निभाता है और इस हेतु सभी संभव साधनों का प्रयोग करता है।

पाकिस्तान के लिए काश्मीर समस्या किसी निर्जीव भूमि और संपत्ति से जुड़ा विवाद नहीं है। इस्लाम आधारित राष्ट्र और शासनतंत्र की विचारधारा के प्रचार-प्रसार का एक अंग अफगानिस्तान भी था और

काश्मीर भी है। काश्मीर के जन-जन के दिलो-दिमाग को जीतना पाकिस्तानी रणनीति का प्रमुख उद्देश्य है। फौजी कारवाई और आतंकवाद तो उसके उद्देश्य की प्राप्ति के लिए माध्यम मात्र हैं।

दूसरी ओर भारत विश्व का एकमात्र धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक देश है। भारत के संविधान निर्माताओं ने धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र को संविधान में सर्वोच्च स्थान दिया। भारत के जनमानस ने भी धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र को अंतर्मन से स्वीकारा और अंगीकृत किया है। सभी राजनैतिक दल भी लोकतंत्र और धर्मनिरपेक्षता की दुहाई देते नहीं थकते। किंतु भारत ने विश्व परिदृश्य पर धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र का अगुआ और प्रश्रयदाता होने का कभी कोई प्रयास नहीं किया।

भारत का राजनैतिक नेतृत्व धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र को आंतरिक राजनीति के लिए तो आवश्यक मानता है पर अन्य देशों के संदर्भ में धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र की बात करना उन देशों के आंतरिक मामलों में दखलअंदाजी मानी जाती है। कुछ वर्ष पूर्व तत्कालीन भारत सरकार ने वैश्वीकरण को अपनाया। परन्तु वैश्वीकरण का संदर्भ केवल उतना ही था जितना पश्चिमी देशों ने तय किया था। हमारा राजनैतिक नेतृत्व धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र के वैश्वीकरण की बात करना ही नहीं चाहता।

एक ओर भारत का राजनैतिक नेतृत्व अपनी लोकतांत्रिक धर्मनिरपेक्ष विचारधारा का विश्व के मंचों से प्रचार-प्रसार करने में भी संकोच अनुभव करता है और दूसरी ओर पाकिस्तान येन-केन प्रकारेण अपनी इस्लामी राष्ट्रवाद की विचारधारा को प्रसारित कर सशक्त करने में लगा है। वैचारिक स्तर पर भारत या तो निष्क्रिय है या प्रतिरक्षात्मक भूमिका में, जबकि पाकिस्तान सदा आक्रामक मुद्रा में रहता है।

प्रत्येक युद्ध भूमि पर बाद में लड़ा जाता है, जन-जन के मानस पर पहले लड़ा जाता है। भूमि पर युद्ध तो सेना लड़ती है पर मानसिक और वैचारिक स्तर का युद्ध देश के राजनैतिक नेतृत्व का कार्य होता है। मानसिक और वैचारिक युद्ध में प्रतिरक्षात्मक युद्धशैली पराजय की शैली है और आक्रामक शैली विजय की संभावनाएँ लिए होती है। यदि हमारी लोकतंत्र और धर्मनिरपेक्ष में आस्था सतही नहीं है, यदि हमने धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र को मात्र सहूलियत के लिए नहीं अपनाया है, यदि हम धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र को पूरे विश्व के लिए आदर्श व्यवस्था मानते हैं तो हमें पूरे विश्व में और विशेषकर अपने पड़ोसी देशों में धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र की स्थापना के लिए प्रयास करने चाहिए।

पाकिस्तान के इस्लामी राष्ट्रवाद का सही जवाब भारत द्वारा धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र द्वारा ही दिया जा सकता है। चाहे पाकिस्तान हो चाहे बांग्लादेश, भारत को इनमें उन सभी ताकतों की खुल कर मदद करनी चाहिए जो वहाँ धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र की स्थापना के लिए प्रयासरत हों। भारत को ऐसे प्रचारतंत्र की रचना करनी चाहिए जो इन देशों में धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र की अलख जगाए। जब अमरीका का विदेशमंत्री चीन जाता है तो मानवाधिकारों की बात करता है, उसी प्रकार जब भारत का प्रधानमंत्री लाहौर जाए तो लोकतांत्रिक धर्मनिरपेक्ष अधिकारों की बात करे। पाकिस्तान और बांग्लादेश के अल्पसंख्यकों का हितचिंतन करना भारत के लिए एक पुनीत कर्तव्य की तरह होना चाहिए।

राजनैतिक इच्छाशक्ति से वैचारिक युद्ध का पहला मोर्चा भारत को अपने राज्यक्षेत्र में ही खोलना होगा। सीमा से लगे क्षेत्रों में लोकतांत्रिक मूल्यों और धर्मनिरपेक्ष मूल्यों को सशक्त करने के लिए विशेष कानूनी प्रावधान किये जा सकते हैं। अल्पसंख्यकों की सुरक्षा लोकतांत्रिक धर्मनिरपेक्षता का एक महत्वपूर्ण स्तंभ है। इस संबंध में सीमा से लगे प्रदेशों में विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

भारत ने अभी तक सभी युद्ध भूमि के लिए लड़े हैं। भूमि हेतु युद्ध में एक दोषीभाव मानस पर रहता है क्योंकि भूमि मनुष्य की संपत्ति संग्रहण एवं लोभ की प्रवृत्ति का प्रतीक है। यही कारण है कि हम युद्ध जीतने के लिए नहीं लड़ते, हारने से बचने के लिए लड़ते हैं। कारगिल में भी हमारा उद्देश्य पाकिस्तान को हराना नहीं है, केवल अपनी हारी हुई भूमि को वापिस लेना है। यदि हम अपने सैनिकों के शौर्य के

कारण जीत भी जाते हैं तो हमें एक ऐसा दोषी भाव ग्रसित कर लेता है कि हम जीता हुआ सब कुछ शत्रु को लौटा कर ही चैन लेते हैं। शिमला समझौता इसका सबसे बड़ा उदाहरण है।

भारत के राजनैतिक नेतृत्व को अपनी मानसिकता बदलनी होगी। भूमि की रक्षा के प्रति अपनी प्रतिबद्धताओं को समुचित स्थान देते हुए भारत को भविष्य में वैचारिक युद्ध लड़ने के लिए तैयार होना होगा। पाकिस्तान द्वारा किये जा रहे वैचारिक आक्रमण का समुचित जवाब तभी होगा जब हम पाकिस्तान से इस्लामी राष्ट्रवाद को समूल समाप्त करने के लिए हरसंभव प्रयास करें। पाकिस्तान से हमारा अगला युद्ध भूमि जीतने के लिए ना हो अपितु पाकिस्तान में धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र की स्थापना के लिए हो। भारत द्वारा पाकिस्तान पर जो आक्रमण किया जाए वह पाकिस्तान के उद्धार के लिए हो न कि पाकिस्तान के संहार के लिए।

सुत बित नारि भवन परिवारा, होंहिं जाहिं जग बारहिं बारा। पुत्र, धन, नारी, भूमि-भवन, परिवार के लिए अपने प्रिय भाई की कुर्बानी देना उचित नहीं है। भगवान राम ने भी लंका पर जो आक्रमण किया था, वह एक नारी के लिए नहीं था। लंका पर आक्रमण दैविक मूल्यों की स्थापना के लिए था। उनका उद्देश्य लंका का उद्धार था संहार नहीं। यह बात विभीषण ने समझी थी और इसी कारण राम की सहायता की थी। भारत को भी पाकिस्तान में लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना के लिए युद्ध करना चाहिए। तभी हमारे प्रिय बंधुओं की शहादत सार्थक होगी।

५ जून, १९९९

१६ पाकिस्तान से नहीं, इस्लामी राष्ट्रवाद से संघर्ष करें

भारत ने पाकिस्तान को वर्ल्ड कप के एक मैच में हरा दिया। पूरे देश में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी। पटाखे फोड़े गये। मिठाइयाँ बाँटी गयी। आधी रात को भारत के सभी शहरों में दिवाली जैसा माहौल था। यह भारत का वर्ल्ड कप मुकाबले का अंतिम मैच था। इसके बाद भारत मुकाबले से बाहर हो गया और पाकिस्तान ने विश्व कप के सेमी फाइनल में प्रवेश किया। पर भारत की उन्मादी जनता को इससे कोई लेना-देना नहीं। पाकिस्तान में भी भारत से हारने का अफसोस ज्यादा है और विश्व कप के सेमी-फाइनल में प्रवेश की खुशी कम।

दोस्ती हो या दुश्मनी, जब कोई भी शै जुनून की हद से गुजर जाती है तो वह जी का जंजाल बन जाती है। भारत और पाकिस्तान की दुश्मनी अब एक ऐसा जुनून बन गयी है जिसका हल राजनेताओं की बातचीत से नहीं निकल सकता। इस मर्ज की जितनी दवा की गयी है, यह उतना ही बढ़ता गया है। कुछ वर्ष पहले तक यह कहा जाता था कि विभाजन की विभीषिका को भुलाने के लिए कुछ समय तो लगेगा ही। जिस पीढ़ी ने विभाजन को देखा, उसके लिए पाकिस्तान के प्रति बंधुत्व भाव जाग्रत करना अत्यंत कठिन होना स्वाभाविक था किंतु क्रिकेट के मैदान में पाकिस्तान पर जीत की खुशी में पटाखे फोड़ने वाले नवयुवकों ने तो विभाजन का दर्द नहीं भोगा है।

यह माना जाता है कि खेलों से अंतर्राष्ट्रीय मित्रता और सौहार्द्र में वृद्धि होती है। किंतु भारत और पाकिस्तान के बीच तो हर खेल युद्ध-भावना से खेला जाता है। भारत और पाकिस्तान के बीच हर मैच उस आग में घी डालने का काम करता है, जो दोनों देशों की जनता के दिलों में आधी शताब्दी से अधिक समय से जल रही है। इस आग से दोनों देशों के सम्बन्धों के साथ-साथ दोनों देशों के विकास की प्रक्रिया भी झुलस गयी है।

भारत और पाकिस्तान तीन युद्ध लड़ चुके हैं; आज युद्ध तो नहीं पर युद्ध जैसी स्थिति है; सीमा पर तनाव तो सदा बना ही रहता है। इस सब का दोनों देशों की अर्थव्यवस्था पर जो विपरीत प्रभाव पड़ता है, उसको समझने के लिए अर्थशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता नहीं है। १९७१ की लड़ाई के बाद मङ्गोई का जो दौर देश में चला उसको पटरी पर लाते-लाते लगभग एक दशब्दी का समय लग गया था। आज सीमा पर जो युद्ध जैसी स्थिति है, उसकी कीमत भी दोनों देशों की जनता को ही चुकानी पड़ेगी।

युद्ध हों, या युद्ध जैसी स्थिति हो या विभाजन का नरसंहार हो या खेल के मैदान में उन्माद हो – ये उस बीमारी के बाह्य लक्षण हैं जिसने लगभग एक शताब्दी पूर्व भारतीय उपमहाद्वीप में प्रवेश कर धीमे जहर की तरह काम किया है। इस बीमारी का नाम है इस्लामी राष्ट्रवाद और इसी की उपज बन कर उभरा द्विराष्ट्र सिद्धांत।

इस्लाम का भारत में आगमन लगभग एक हजार वर्ष पूर्व हुआ। भारत में इस्लाम का न केवल प्रचार-प्रसार हुआ अपितु इस्लाम ने भारत में एक विशुद्ध भारतीय स्वरूप भी विकसित किया। सूफी सम्प्रदाय का विकास भारत की देन है। शिया भारत और ईरान की जमीन से बहुत गहरे जुड़े हैं। पूरे विश्व में भारत को छोड़ कहीं भी दरगाह के सामने सजदा करने और दरगाह पर चादर चढ़ाने की परंपरा नहीं है। भारत के मुसलमानों की शादी की रस्में हो या मैय्यत की, उनमें एक अलग पुट है। अंग्रेजों के आने के पूर्व तक भारत के किसी भी भाग में कभी भी हिन्दू-मुस्लिम दंगे नहीं हुए थे। १८५७

के स्वतंत्रता संग्राम में हिन्दुओं और मुसलमानों ने कंधे से कंधा मिलाकर संघर्ष किया था। भारत में इस्लाम की अलगाववादी प्रवृत्ति कभी नहीं रही। शिवाजी, और महारानी लक्ष्मीबाई की फौज में मुसलमान महत्वपूर्ण पदों पर थे। गुरु नानक का एक प्रमुख शिष्य मुसलमान था। सैकड़ों वर्षों की सहअस्तित्व की इस परंपरा को झुटलाकर इस्लामी राष्ट्रवाद की नींव रखी गयी थी।

अंग्रेजों ने उभरते भारतीय राष्ट्रवाद को पथभ्रष्ट करने के लिए लगभग सौ वर्ष पूर्व इस्लामी राष्ट्रवाद की विचारधारा को प्रश्रय दिया और पोषित किया। इस विचारधारा से ही इस अवधारणा का जन्म हुआ कि हिन्दू और मुसलमान अलग-अलग राष्ट्र हैं और इस अवधारणा के विकास के फलस्वरूप ही पाकिस्तान का जन्म हुआ। आज भारत और पाकिस्तान दोनों में एक वैचारिक द्वंद है। यद्यपि पाकिस्तान ने आधिकारिक रूप से इस्लामी राष्ट्रवाद और द्विराष्ट्र सिद्धांत को मान्यता दी है, तथापि पाकिस्तान में एक वर्ग भारत से भावनात्मक लगाव रखता है और हृदय के किसी कोने में अपने ऐतिहासिक संबंधों को स्वीकार करता है।

भारत में वैचारिक द्वंद बहुआयामी है। भारत का मुसलमान न तो इस्लामी राष्ट्रवाद को स्पष्टतः नकार पाता है और न ही स्वीकार कर पाता है। हिंदू पारंपरिक रूप से सहअस्तित्व और सहिष्णुता का पक्षधर है अतः वह धर्मनिपेक्षता की बात करता है परन्तु इस्लामी राष्ट्रवाद की घृणा से क्षुब्ध होकर वह या तो हिंदू राष्ट्रवाद की ओर झुकने लगता है या फिर किंकर्तव्यविमूढ़ होकर पाकिस्तान के विरुद्ध आक्रोश उगलने लगता है। हमारे राजनेताओं ने हिंदू की इस दुविधा को समझे बिना मुस्लिम वोट बैंक की राजनीति कर एक ओर तो मुसलमानों को अलग-थलग किया है और दूसरी ओर हिंदुओं के मन में भी असंतोष को हवा दी है।

स्वतंत्रता के बाद भारत में जो राजनैतिक नेतृत्व उभरा है, वह देश को वैचारिक नेतृत्व देने में अक्षम रहा है। हमारे तथाकथित नेता नेतृत्व देने के स्थान पर भीड़ के साथ-साथ चलते हैं और अपने को धन्य समझते हैं। इस्लामी राष्ट्रवाद से उभरे वैचारिक द्वंद को ना तो किसी भी राजनैतिक दल ने समझने का प्रयास किया है और ना ही वैचारिक स्तर पर उसका मुकाबला करने की कोई भी योजना किसी भी दल के पास है।

भारतीय जनसंघ हिन्दू राष्ट्रवाद की बात करता था। जनसंघ विभाजन को समाप्त कर पुनः एक संयुक्त भारत की स्थापना का स्वप्न भी देखता था। जनसंघ से जनता पार्टी और फिर भारतीय जनता पार्टी बनने की प्रक्रिया में यह सब बातें कहीं खो गयी और एक ऐसे राजनैतिक दल का जन्म हुआ जो इस्लामी राष्ट्रवाद का मुकाबला करने की बात करने में भी डरता है।

स्वतंत्रता पूर्व मुस्लिम लीग का मुकाबला काँग्रेस करती थी किंतु आजादी के बाद काँग्रेस ने मुसलमानों के वोट बटोरने के नाम पर मुसलमानों को अपनी अलग पहचान का इतना अधिक अहसास कराया कि शायद मुस्लिम लीग भी नहीं करा पायी थी।

इस सब वैचारिक उलझन से भारत का मुसलमान सबसे अधिक परेशानी में पड़ा है। हिंदू राष्ट्रवाद की बात करने वाले वास्तव में इस्लामी राष्ट्रवाद और द्वि-राष्ट्र अवधारणा के विरुद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं किंतु भारतीय मुसलमान को हिंदू राष्ट्रवाद इस्लाम के विरुद्ध जान पड़ता है। इस्लाम और इस्लामी राष्ट्रवाद के बीच जो अंतर है उसे समाप्त करने से प्रत्येक मुसलमान पाकिस्तानी बन जाता है और उसे शक की नजर से देखा जाता है। कुछ अपरिपक्व मुसलमान भी इस बारीकी को समझ नहीं पाते और इस्लाम के प्रति अपनी निष्ठा के चलते इस्लामी राष्ट्रवाद और पाकिस्तान के प्रति श्रद्धा रखने लगते हैं।

आवश्यकता तो यह थी कि विभाजन के तुरंत बाद भारत का राजनैतिक नेतृत्व इस्लामी राष्ट्रवाद और इस्लाम के बीच की खाई को चौड़ा कर भारतीय मुसलमान और इस्लाम की एक नयी छवि को

विकसित करता। मुसलमानों के बीच शिक्षा का प्रसार, मुसलमानों में प्रगतिशील राजनैतिक नेतृत्व को प्रश्रय तथा कट्टरपंथी मुस्लिम नेताओं का बहिष्कार – ये कदम इस्लामी राष्ट्रवाद का मुकाबला करने के लिए आवश्यक थे पर जो किया गया वह इसका ठीक उल्टा था।

भारत के राजनैतिक नेतृत्व ने इस्लामी राष्ट्रवाद के दानव से दो-दो हाथ होने में सदा संकोच किया। मुसलमान से दोस्ती करने के लिए नेताओं ने इस्लामी राष्ट्रवाद को भी गले लगा लिया। दूसरी ओर पाकिस्तान के हुक्मरानों ने इस्लामी राष्ट्रवाद को सशक्त करने के लिए भारत विरोध और हिंदू विरोध का सहारा लिया। कुल मिलाकर परिणाम यह हुआ कि नफरत और अलगाव की अमरबेल को सीमा के दोनों ओर के सत्ताधीशों ने भरपूर सींचा। इस के परिणाम से जो उन्माद और जुनून पैदा हुआ है, वह इस उपमहाद्वीप की बरबादी की संभावनाएँ लिए हुए है।

इस पागलपन और वहशी जुनून से निजात पाने के लिए हमें मुसलमानों को अपने साथ लेते हुए इस्लामी राष्ट्रवाद से हर मोर्चे पर युद्ध करना होगा। इस्लाम के प्रति पूर्ण सम्मान रखते हुए इस्लामी राष्ट्रवाद को जड़ से समाप्त करने के लिए एक लम्बी वैचारिक लड़ाई लड़नी होगी। यह लड़ाई केवल भारत की सीमाओं तक सीमित रखना पर्याप्त नहीं होगा। हमें पाकिस्तान में उन सभी ताकतों को मजबूत बनाने में सहयोग करना चाहिए जो इस्लामी राष्ट्रवाद के पाकिस्तानी मॉडल का विरोध कर सकते हैं। साथ ही इस्लाम के भारतीय स्वरूप की अलग पहचान को विकसित करने के लिए भी प्रयास करने होंगे। अब समय आ गया है कि भारत क्रिकेट के मैच में जीत की क्षणिक खुशी का लोभ छोड़ कर एक ओर तो पाकिस्तान की स्थापना की मूल अवधारणा पर आक्रमण करे और दूसरी ओर पाकिस्तान में प्रगतिवादी एवं शांतिप्रिय तत्वों को सशक्त करे।

१२ जून, १९६६

२० अमरीका, पाकिस्तान और चूसे हुए आम

आम खाओ और गुठली फेंक दो, शराब पियो और बोतल फेंक दो – ये कहावतें उस काल में प्रचलित हुईं जब डिस्पोजेबल वस्तुओं का शायद आविष्कार भी नहीं हुआ था। आज का युग तो पूरी तरह डिस्पोजेबल वस्तुओं का युग है। यूज एन्ड थ्रो अर्थात् प्रयोग करो और फेंक दो – आज के युग का जीवनदर्शन बन गया है। अमरीकी उपभोक्तावाद की पराकाष्ठा तो तब होती है जब केवल कप, गिलास, प्लेट, चम्मच इत्यादि ही डिस्पोजेबल नहीं होते अपितु हर संबंध, हर रिश्ता डिस्पोजेबल हो जाता है। इस नयी संस्कृति के प्रथम सोपान पर खड़े हम अविकसित देशों के अविकसित लोग इस संस्कृति की सर्वोच्च ऊँचाई को न तो देख सकते हैं और न ही समझ सकते हैं। मित्र, पति, पत्नी, माता, पिता – इस संस्कृति में सब डिस्पोजेबल होते हैं, जब तक उपयोगिता हो सम्मान से रखिये और जिस दिन उपयोगिता समाप्त होती प्रतीत हो, उठा कर घूरे पर फेंक दीजिए। इस घूरेवादी संस्कृति में स्वार्थ स्थायी होते हैं और भावनाओं का कोई स्थान नहीं होता।

पाकिस्तान पिछले पाँच दशकों से अपने-आप को भारत से अलग सिद्ध करने का प्रयास कर रहा है लेकिन सच्चाई यह है कि पाकिस्तान की रगों में भी वही खून बहता है जो भारत की रगों में बहता है। भारत हो या पाकिस्तान, दोनों घूरेवादी संस्कृति के प्रथम सोपान पर खड़े अपनी भावनाओं के चश्मे से विश्व को देखते हैं और अमरीका एवं पश्चिमी देशों की स्वार्थ आधारित नीतियों को समझ ही नहीं पाते।

कारगिल के विषय पर अमरीकी और जी आठ देशों की प्रतिक्रिया से पाकिस्तान में आश्चर्य है और भारत में उल्लास। पाकिस्तान में कहा जाता है कि पाकिस्तान के तीन स्तंभ हैं – आर्मी, अमरीका और अल्लाह। पाकिस्तान की राजनीति हो या पाकिस्तान की अर्थव्यवस्था, इन तीन स्तंभों के आस-पास ही घूमती है। अमरीका द्वारा कारगिल पर कड़ा रुख अपनाने से पाकिस्तान को अपनी व्यवस्था का एक स्तंभ हिलता प्रतीत हो रहा है। पाकिस्तानी जनता और पाकिस्तानी शासकों ने अमरीका को अपनी व्यवस्था का एक अंग मान लिया था और अमरीका के समर्थन को एक शाश्वत सत्य के रूप में देखने लगे थे।

इसके ठीक विपरीत अमरीका के लिए पाकिस्तान केवल एक डिस्पोजेबल वस्तु के समान था, है और रहेगा। अमरीका को पाकिस्तान से कुछ लाभ मिलते थे और उन लाभों के बदले में अमरीका कुछ कीमत अदा करने को तैयार था। लाभ और कीमत के समीकरण पर सदा नजर रखना और अधिक-से-अधिक लाभ कम-से-कम कीमत पर प्राप्त करने का प्रयास करना – यह अमरीकी विचारधारा का मूलाधार है। यदि किसी संबंध में लाभ कम हों और कीमत अधिक तो एक सामान्य अमरीकी के पास दो ही विकल्प होते हैं या तो कीमत कम करते हुए लाभ बढ़ाने का प्रयास कर समीकरण को सही किया जाए या फिर संबंध समाप्त कर दिया जाए। इन विकल्पों के विषय में निर्णय करते हुए न तो भावनाओं का कोई स्थान होता है और ना ही इतिहास का। उदाहरण के लिए यदि माता-पिता को घर में रखने पर लाभ कम हैं और खर्चा अधिक तो माता-पिता को घर से बाहर निकालने में अमरीका में कोई संकोच नहीं किया जाता। अमरीका प्रत्येक देश से अपने संबंधों को इसी प्रकार लाभ और कीमत के समीकरणों से संचालित करता है।

शीत युद्ध के समय पाकिस्तान की बहुत अधिक उपयोगिता थी। सोवियत यूनियन और चीन के पिछवाड़े में पाकिस्तान एक ऐसे दरवाजे के रूप में था जिससे घुस कर दोनों कम्युनिस्ट देशों को परेशान किया

जा सकता था। पाकिस्तान में लोकतंत्र का कमजोर होना भी अमरीका के लिए फायदेमंद था क्योंकि लोकतांत्रिक नेता जनता की सुनने को बाध्य होते हैं और पूरी तरह कठपुतली बनने को तैयार नहीं होते। दक्षिण अमरीकी प्रायद्वीप के देशों में भी अमरीका को वही देश सबसे अधिक प्रिय रहे जिनके तानाशाह शासक कठपुतली बनने को तैयार रहे तथा जिनके शासकों ने अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए अपनी जनता को भुलाने में कोई संकोच नहीं किया। पाकिस्तान की विशेष भौगोलिक स्थिति के साथ ही इसी प्रकार के शासकों का सत्तासीन होना अमरीका के लिए सोने में सुहागे वाली स्थिति थी। इसी लिए अमरीका ने पाकिस्तान का सदा पक्ष लिया और हर मंच पर समर्थन किया। बदले में पाकिस्तान ने अमरीका की ओर से अफगानिस्तान में युद्ध लड़ा और सोवियत यूनियन को धराशाही करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

सोवियत यूनियन और शीत युद्ध की समाप्ति के बाद विश्व में समीकरण बदल गये हैं। अमरीका को अगला खतरा साम्यवाद से नहीं कट्टरपंथी इस्लामी राष्ट्रवाद से है। अमरीका का घोषित शत्रु अब ओसामा बिन लादेन है। विडम्बना तो यह है कि साम्यवाद को समाप्त करने के लिए इस भस्मासुर को अमरीका ने ही पोषित कर सशक्त किया था। आज जब साम्यवाद समाप्त हो गया है तो यह दैत्य अपने पूर्व संरक्षक अमरीका को डरा-धमका रहा है। इस नयी परिस्थिति में पाकिस्तान की भूमिका स्पष्ट स्प से परिभाषित नहीं है। एक ओर तो पाकिस्तान का अस्तित्व ही इस्लामी राष्ट्रवाद के सिद्धांत पर आधारित है और दूसरी ओर उसके अमरीका से ऐतिहासिक संबंध हैं।

भौगोलिक रूप से पाकिस्तान इस्लामी देशों की सीमा पर स्थित है। रणनीति की दृष्टि से अमरीका के लिए यह आवश्यक है कि इस्लामी देशों के समूह की पूर्वी सीमा पर उसे अपने पाँव जमाने की जगह मिले। यह पाँव जमाने की जगह या तो उसे पाकिस्तान से मिल सकती है या भारत में। भारत के साथ सबसे बड़ी समस्या उसका लोकतांत्रिक स्वरूप है जिसके चलते भारत अमरीका की कठपुतली नहीं बन सकता। पाकिस्तान में अपने पाँव जमाना अमरीका के लिए शत्रु के क्षेत्र में पाँव जमाने के समान है। जिसके कुछ खतरे हैं पर रणनीतिक दृष्टि से बहुत से लाभ भी हैं।

अमरीका जानता है कि पाकिस्तान की जनता अमरीका विरोधी है और इस्लामी राष्ट्रवाद की पक्षधर। इसलिए यदि अमरीका को पाकिस्तान में अपना आधार बनाये रखना है तो उसकी पहली जरूरत एक ऐसी सरकार होगी जो पूरी तरह अमरीका की कठपुतली की तरह काम करे और इस संबंध में पाकिस्तानी जनता में अपनी लोकप्रियता की चिंता न करे। अमरीका की दूसरी शर्त होगी कि ऐसी अलोकप्रिय सरकार शासन तंत्र के सभी अंगों पर पूर्ण नियंत्रण रख सके और आवश्यकता पड़ने पर विद्रोही तत्वों का दमन कर सके। यदि शासक का शासित पर नियंत्रण नहीं है तो ऐसे शासक से किसी भी प्रकार की सौदेबाजी निरर्थक है।

पाकिस्तान की वर्तमान नवाज शरीफ सरकार उपरोक्त दोनों शर्तों को पूरा करने में असमर्थ है। न तो नवाज शरीफ जनमत को पूरी तरह नजरअंदाज कर अमरीका की कठपुतली बन सकते हैं और न ही नवाज शरीफ का सेना और आई०एस०आई० पर पूर्ण नियंत्रण है। ऐसी पस्थिति में अमरीका के सामने दो विकल्प हैं। पहला विकल्प – नवाज शरीफ को हटाकर किसी फौजी अफसर को शासक बनाया जाए जो आई०एस०आई० तथा फौज पर पूर्ण नियंत्रण रखते हुए अमरीका की कठपुतली बन जाए। दूसरा विकल्प – पाकिस्तान को समर्थन बंद कर उसे कमजोर किया जाए और आवश्यकता पड़ने पर आक्रमण करके पाकिस्तान स्थित कट्टरपंथी ठिकानों को नेस्तनाबूद किया जाए। दोनों में से कोई भी विकल्प आसान नहीं है। पाकिस्तानी सेना में कट्टरपंथी तत्वों ने प्रमुख स्थान बना लिया है और किसी भी अमरीकी कठपुतली के लिए यह संभव नहीं होगा कि वह फौज को तालिबान, मुजाहिद्दीन और ओसामा बिन लादेन के विरुद्ध कार्यवाही करने को मजबूर कर सके। दूसरी ओर पाकिस्तान को यदि

समर्थन पूरी तरह बंद कर विनाश के रास्ते पर ढकेला गया तो पाकिस्तान परमाणु बम की तकनीक अन्य इस्लामी राष्ट्रों जैसे लीबिया, इराक इत्यादि को बेचने को मजबूर हो जाएगा। अमरीका यह कतई नहीं चाहता कि परमाणु बम की तकनीक इस्लामी राष्ट्रों के पास पहुँचे।

अमरीका और पाकिस्तान के रिश्ते इस समय अत्यंत नाजुक मोड़ पर हैं। हो सकता है कि पाकिस्तान एक बार फिर अमरीका की गोद में बैठा दिखाई देने लगे और यह भी हो सकता है कि अमरीका पाकिस्तान के सर्वनाश का मार्ग प्रशस्त करता प्रतीत हो। भारत के राजनैतिक नेतृत्व को इस नाजुक परिस्थिति को समझना होगा और बहुत होशियारी से भारत के राष्ट्रीय हितों की चिंता करते हुए कदम उठाने होंगे।

पिछले पाँच दशकों से पाकिस्तान को अमरीका से जो समर्थन मिलता रहा है, उसके अचानक हटने से भारत का उल्लासित होना स्वाभाविक है। किंतु यह सावधानी रखना भी आवश्यक है कि कहीं यह खुशी क्षणिक न हो। यदि पाकिस्तान अगले कुछ सप्ताहों में अमरीका की गोद में बैठ जाता है तो भारत के लिए मुश्किलें खड़ी हो सकती हैं। दूसरी ओर यदि अमरीका पाकिस्तान के सर्वनाश की इच्छा प्रकट करता है तो हमें सर्वनाश के बाद की स्थिति की कल्पना कर यह सोचना होगा कि क्या पाकिस्तान के सर्वनाश में भारत का हित है ? कहीं ऐसा न हो कि भारत अमरीका की रणनीति और हितसाधना का एक मोहरा बन जाये।

अमरीका के लिए पाकिस्तान अब एक चूसे हुए आम की तरह है। अमरीका इस चूसे हुए आम से एक बार फिर रस निकालने का प्रयास करेगा। यदि कुछ रस निकलने लगा तो ठीक वर्ना वह इसे न केवल घूरे पर फेंक देगा अपितु इसे विश्व शांति के लिए खतरा भी घोषित कर देगा। इस प्रसंग में भारत के लिए सबसे बड़ी सीख तो यही है कि वह न तो अमरीका का मुँहलगा आम बने और न ही चूस कर घूरे पर फेंका गया आम।

२६ जून, १९९९

२१ बात निकलेगी तो दूर तलक जाएगी

जिस प्रकार कहानियों, किस्सों और फिल्मों में प्रेमी-प्रेमिका के विवाह के बाद कहानी समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार भारत के स्कूलों तथा कॉलेजों में पढ़ाया जाने वाला इतिहास १५ अगस्त १९४७ को स्वतंत्रता प्राप्त होने के साथ ही समाप्त हो जाता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात का इतिहास कोई नहीं पढ़ता और हमारे राजनेता तो बिल्कुल नहीं पढ़ते। कहा जाता है कि जो देश अपना इतिहास भूलता है, वह उसे दोहराने को मजबूर होता है। यह हमारे देश का सौभाग्य है कि हम १९४८, १९६२, १९६५ और १९७१ का अपना इतिहास कारगिल में नहीं दोहरा रहे।

१९४८ और १९६५ में भी पाकिस्तान ने घुसपैठिये भारत में भेजे थे। १९४८ में घुसपैठियों को खदेड़ने में सेना पूरे जोर-शोर से लग गयी पर हमारा राजनैतिक नेतृत्व विशेषकर जवाहरलाल नेहरू की कमजोर इच्छाशक्ति के कारण सेना पूर्णतः सफल न हो सकी और काश्मीर का विभाजन हो गया। उसी समय नेहरू जी की ऐतिहासिक भूल के कारण काश्मीर मुद्दे का अंतर्राष्ट्रीयकरण हुआ और जो समस्या दो सप्ताह के सैनिक अभियान द्वारा सदा के लिए सुलझ सकती थी वह हमेशा के लिए उलझा कर छोड़ दी गयी।

१९६५ में जब घुसपैठिये काश्मीर में घुसने लगे तो भारत ने उसके जवाब में राजस्थान और अन्य सेक्टरों में पाकिस्तान पर आक्रमण कर दिया। भारत की इस आक्रामक नीति से पाकिस्तान को मुँह की खानी पड़ी। हमारी सेना ने पाकिस्तान के बहुत बड़े भू-भाग पर कब्जा कर लिया। किंतु हमारी सैन्य-विजय हमारी कूटनैतिक पराजय का कारण बनी। विश्व जनमत भारत के विरुद्ध खड़ा हो गया। स्वतंत्रता के पश्चात भारत की विदेश नीति को दो बड़े झटके लगे। पहला झटका १९६२ में चीनी आक्रमण के समय लगा और दूसरा १९६५ के पाक युद्ध के समय लगा। दोनों समय हमने अपने आप को बिल्कुल अकेला पाया। १९६२ में हम बुरी तरह हारे और कोई हमारे आँसू पोंछने भी नहीं आया। १९६५ में हम जीते किन्तु विश्व जनमत के दबाव में हमें जीता हुआ सब कुछ लौटाना पड़ा। लगभग ७००० सैनिकों का बलिदान इतिहास में अंकित हो गया और इतिहास तत्कालीन प्रधानमंत्री को दोषी भी ना ठहरा सका क्योंकि वह उतनी मोटी चमड़ी के नहीं बने थे जितने आज के राजनेता। उस भद्रपुरुष ने हजारों सैनिकों के खून को निरर्थक बहाने के लिए स्वयं को दोषी माना और इस दोषीभाव की पीड़ा के कारण प्राण त्याग दिये।

१९७१ में भारत ने एक और निरर्थक युद्ध लड़ा। इस युद्ध में हजारों सैनिक शहीद हुए। इंदिरा गाँधी और जुल्फीकार भुट्टो को युद्ध से व्यक्तिगत और राजनैतिक लाभ शायद मिले हों पर इस युद्ध से न तो भारत को कोई लाभ मिला और न ही पाकिस्तान को। नेहरू जी की महान बेटी से इतिहास कभी-ना-कभी तो यह अवश्य पूछेगा कि मैडम शिमला समझौते के समय आप के ऊपर जो दबाव थे, क्या आपने युद्ध प्रारंभ करने के पूर्व उनके बारे में कुछ सोचा था? नेहरू जी की महान बेटी से इतिहास यह भी पूछेगा कि भारत के जवानों का जो लहू बहा वह अपने देश के लिए बहा था या बांगलादेश के लिए? १९७१ में न तो हम नेहरू जी की ऐतिहासिक भूल को सुधार कर काश्मीर समस्या सुलझा पाये और ना ही हम पाकिस्तान पर किसी भी प्रकार का दीर्घकालिक दबाव बना पाए। हाँ, १९६५ और १९७१ के बीच एक बहुत बड़ा अंतर आ चुका था। १९७१ में हजारों सैनिकों की निरर्थक शहादत पर कोई दोषी भाव से ग्रसित नहीं हुआ। स्तुतिगान करने वाले चारणों एवं दरबारियों के शोर में जवानों के लहू की चिन्ता करने की किसी को फुर्सत नहीं थी।

कारगिल में ताजा घुसपैठ के संबंध में काँग्रेस और विपक्ष के नेतागण एक व्यापक बहस की माँग कर रहे हैं। काँग्रेस के नेताओं का दृढ़ विश्वास है कि इस देश पर शासन करने की क्षमता केवल उनके पास है और बाकी सब नौसिखिये तथा मूर्ख हैं, जिनके हाथ में देश की बागडोर सौंपना देश को खतरे में डालना होता है। उनका मानना है कि कारगिल संकट का मुख्य कारण वर्तमान सरकार का नौसिखियापन है। काँग्रेस के नेता जानते हैं कि भारत में कोई इतिहास नहीं पढ़ता और सच वो होता है जिसे वे बार-बार दोहराते हैं। १९४८, १९६२, १९६५ और १९७१ के युद्धों के समय काँग्रेस सरकार थी। पहली बार किसी गैर-काँग्रेस सरकार के कार्यकाल में युद्ध जैसी स्थितियाँ निर्मित हुई हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि एक तुलनात्मक अध्ययन किया जाए।

यद्यपि कारगिल की लड़ाई का समुचित विश्लेषण करना अभी संभव नहीं है, फिर भी कुछ बातें तो स्पष्ट उभर कर सामने आती हैं। इस लड़ाई में अभी तक लगभग दो सौ भारतीय सैनिक शहीद हुए हैं। यदि इसी प्रकार लड़ाई चलती रही तो घुसपैठियों को पूरी तरह खदेड़ने में लगभग एक माह का समय और लग सकता है तथा यह अटकल लगायी जा सकती है कि आने वाले माह में अधिकतम दो सौ भारतीय सैनिक शहीद होंगे। अर्थात् कुल चार सौ सैनिकों के बलिदान के फलस्वरूप भारत न केवल विश्व में एक सशक्त राष्ट्र के रूप में उभरेगा अपितु पाकिस्तान को विश्व में अलग-थलग करने में भी सफल होगा। भारत की पिछली प्रत्येक सैन्य कार्यवाही में भारत को इससे कहीं अधिक बलिदान देना पड़ा था और कार्यवाही के अंत में पूरा विश्व जनमत भारत के विरुद्ध खड़ा दिख रहा था। आज पाकिस्तान के प्रत्येक दोस्त, चाहे वो अमरीका हो या चीन, ने पाकिस्तान का दामन छोड़ दिया है। आज पाकिस्तान विनाश के कगार पर खड़ा प्रतीत हो रहा है। कोई आश्चर्य नहीं कि उसके पुराने मित्र ही उसे कगार पर से धकेलने का शुभ कार्य कर दें। न्यूनतम बलिदान देकर अधिकतम उपलब्धि के लिए वर्तमान राजनैतिक और सैन्य नेतृत्व बधाई एवं साधुवाद का पात्र है।

इस उपलब्धि की घड़ी में कुछ लोगों को १९६२ में दिया अटल जी का भाषण तो याद आ रहा है पर उसके अतिरिक्त भारत के इतिहास के सभी सैन्य प्रसंगों को वे भूल गये हैं। उनका मानना है कि कारगिल में घुसपैठ का मुख्य कारण वर्तमान सरकार की अक्षमता है। तथ्य तो यह है कि कारगिल में सर्वप्रथम घुसपैठ अस्सी के दशक के पूर्वार्द्ध में हुई जब काँग्रेस सत्ता में थी। संभवतः यदि तभी मुँहतोड़ जवाब दिया जाता तो आज न तो यह स्थिति निर्मित होती और न आज देश के सम्मुख परमाणविक युद्ध का खतरा उपस्थित होता। काँग्रेस का वर्तमान नेतृत्व १९४८, १९६२, १९६५ और १९७१ को तो भूल गया होगा पर उनकी वर्तमान अध्यक्ष के स्वर्गीय पति के श्रीलंका के मूर्खतापूर्ण दुस्साहस को भुलाने में उसे कुछ विशेष श्रम करना पड़ेगा। देश में बहुत कम लोग जानते हैं कि राजीव गाँधी की उस मूर्खता के फलस्वरूप कितने सैनिकों को बलिदान देना पड़ा। आज जब सोनिया और उनके पिछलग्गू कारगिल पर व्यापक बहस की माँग कर रहे हैं तो देश को अधिकार है कि वह श्रीलंका में हुई सैन्य कार्यवाही की लाभ-हानि का हिसाब उन से पूछे।

काँग्रेस को छोड़ बाकी सभी दलों ने राष्ट्रीय सुरक्षा पर आये इस संकट की घड़ी में जिस परिपक्वता का अनुभव दिया है वह हमारे देश के लोकतंत्र के लिए एक शुभ संदेश है। किसी भी अन्य दल ने न तो कोई निरर्थक बयानबाजी की है और न ही सरकार को कटघरे में खड़ा करने का कोई गंभीर प्रयास। लोकसभा चुनावों को भूल कर जिस तरह पूरा देश संगठित खड़ा हुआ है, उससे पूरे विश्व में एक अच्छा संदेश गया है। इस एकात्मता के राग के बीच में काँग्रेस द्वारा जो अलग राग आलापा जा रहा है उस पर जनमानस में व्यापक प्रतिक्रिया हुई है। पिछले सभी युद्धों को भारत की जनता एक दुःस्वप्न की तरह भुलाने का प्रयास करती रही है। १९६२ के युद्ध की यादें तो विशेष रूप से पीड़ादायक

हैं। राष्ट्रीय शर्म के उस अध्याय की याद दिलाकर काँग्रेस के नेतृत्व ने यह सिद्ध कर दिया है कि वह इस देश के हृदय की संवेदनाओं को न तो समझता है और न ही समझना चाहता है।

राज्य सभा के विशेष सत्र की माँग करने वाले यदि ईमानदारी से और गंभीरता से चर्चा करना चाहते हैं तो उन्हें चर्चा का शुभारंभ देश में उपलब्ध अन्य मंचों से करना चाहिए। चर्चा केवल वर्तमान संकट तक सीमित न रख कर राष्ट्रीय सुरक्षा से जुड़े सभी विषयों पर होनी चाहिए। आज तक के सभी सैन्य अभियानों का लाभ-हानि का लेखा-जोखा बनाया जाना चाहिए तथा यह भी पूछा जाना चाहिए कि क्या लाभ को बिना प्रभावित किए हानि को कुछ कम करना संभव था। इस लेखे-जोखे के आधार पर तत्कालीन राजनैतिक नेतृत्व का बिना किसी लाग-लपेट के मूल्यांकन किया जाना चाहिए। क्या काँग्रेस इस प्रकार के वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन के लिए तैयार है? कहीं ऐसा न हो कि जिस प्रकार रूस में लेनिन और स्टालिन की मूर्तियाँ तोड़ी गयीं, भारत में भी कुछ चौराहों की मूर्तियाँ तोड़नी पड़े।

चर्चा करना तो ठीक है, लेकिन ध्यान रहे कि बात निकलेगी तो दूर तलक जाएगी, लोग हर बात का सबब पूछेंगे। पूछेंगे कि

३ जुलाई, १९६६

२२ सोमनाथ, कारगिल तथा कागज, कलम एवं मेज की लड़ाई

कारगिल में तोपें धीरे-धीरे शांत हो रही हैं। घुसपैठिये वापिस जा चुके हैं। भारत में सत्ताधारी दल के नेता अपनी पीठ थपथपा रहे हैं और विपक्षी दल दबी जबान से इसे भारतीय सेना की विजय बता रहे हैं। पाकिस्तान में एक ओर तो हार जैसा उदासी भरा माहौल है और दूसरी ओर उग्रवादी गुट इसे अपनी जीत बताकर अगली विध्वंसक कार्यवाही की धमकी दे रहे हैं। यह स्पष्ट है कि यद्यपि इस कार्यवाही में पाकिस्तान को बहुत नुकसान उठाना पड़ा है, फिर भी ना तो उग्रवादियों की कमर टूटी है और ना ही पाकिस्तान का रूख कुछ नरम पड़ा है। हमने साँप को पत्थर तो मारा है पर साँप ना तो पर्याप्त रूप से घायल हुआ है और ना ही मरा है। चोट खाया साँप वापिस अपनी बिल में घुस गया है और वहीं से फुफकार रहा है। यह स्थिति खुशियाँ या विजयोत्सव मनाने की नहीं है अपितु अत्यंत चिंतनीय है।

पूरा विश्व आज यह मान रहा है कि कारगिल में घुसपैठ के पीछे पाकिस्तान का हाथ था। पाकिस्तान के सेना प्रमुख ने भी स्वीकार किया है कि पाकिस्तानी सैनिकों ने नियंत्रण रेखा पार की थी। भारतीय सेना ने इस बात के पुख्ता सबूत विश्व के सम्मुख प्रस्तुत किये हैं कि घुसपैठियों में बहुत बड़ी संख्या में पाकिस्तानी सेना के सैनिक एवं अधिकारी थे। यह स्पष्ट है कि भारतीय सीमा में घुसपैठ की दुस्साहसपूर्ण योजना पाकिस्तान की थी और इस योजना के क्रियान्वयन हेतु पाकिस्तान ने सभी प्रकार के संसाधनों को एकत्र किया तथा मुजाहीद्दीन का लेबल चिपकाकर विश्व को मूर्ख बनाने का असफल प्रयास किया।

इस पूरे प्रकरण में भारत की भूमिका प्रतिरक्षात्मक थी। आक्रमण पाकिस्तान द्वारा किया गया और हमने उस आक्रमण को विफल करने में पूरी शक्ति लगा दी। आक्रमणकारी भाग गया और हम खुशियाँ मनाने लग गये हैं। १९४८ तथा १९६५ में भी पाकिस्तान ने इसी प्रकार घुसपैठ करने का प्रयास किया था और फिर हमने उसे भगाने का प्रयास किया था। १९४८ में पाकिस्तान कुछ हद तक सफल हुआ और उसने काश्मीर का बहुत बड़ा हिस्सा हथिया लिया। १९६५ एवं १९७१ में हम युद्ध जीते किंतु पाकिस्तान ने जो हिस्सा हथिया लिया था उसे वापिस लेने की बात तो दूर अपितु काश्मीर का कुछ और भूभाग पाकिस्तान के कब्जे में चला गया।

गाँव पर बार-बार एक दैत्य हमला करता है, गाँव की स्त्रियों से बलात्कार करता है, गाँव की जमीन पर कब्जा जमाने का प्रयास करता है। गाँववाले हर बार उस दैत्य को भगाने में पूरा जोर लगा देते हैं और दैत्य के भाग जाने पर खुशियाँ मनाते हैं। गाँव की स्त्रियाँ भी दैत्य की घुसपैठ को भूल जाती हैं। हर बार दैत्य गाँव से भागता है और गर्जना करते हुए कहता है कि वह फिर आएगा। गाँववाले उसकी गर्जना को नजरअंदाज कर उससे बातचीत प्रारंभ करने के प्रयास में लग जाते हैं। गाँववाले न तो दैत्य को सबक सिखाने का कोई प्रयास करते हैं, न ही दैत्य से क्षतिपूर्ति की माँग करते हैं, न ही दैत्य को समाप्त करने का प्रयास करते हैं। गाँव के नेतृत्व का मानना है कि बातचीत से हर समस्या का हल निकाला जा सकता है। दैत्य गाँववालों पर हँसता है, दुनिया को दिखाने के लिए बातचीत करता रहता है और साथ ही एक हजार वर्ष तक गाँव से लड़ने की घोषणा करता रहता है।

कारगिल से घुसपैठियों को वापिस बुलाने की नवाज शरीफ की घोषणा के बाद पाकिस्तान से विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ आई हैं। उग्रवादी गुटों ने एक ओर तो नवाज शरीफ की आलोचना की है, दूसरी

आर उन्होंने अपने लड़ाकूओं को वापिस बुलाने की कार्यवाही को अगले बड़े हमले की तैयारी बताया है। स्वयं नवाज शरीफ ने भी घुसपैठियों की प्रशंसा की है और कहा है कि कारगिल में घुसपैठ का उद्देश्य विश्व समुदाय का ध्यान आकृष्ट करना था। नवाज शरीफ के अनुसार घुसपैठियों का उद्देश्य पूरा हुआ इसलिए अब उन्हें वापिस आ जाना चाहिए। पाकिस्तानी सेना ने भी घुसपैठियों की वापसी को ऊपरी तौर पर तो स्वीकार कर लिया है पर अंदर ही अंदर सेना क्रुद्ध है और अपना क्रोध प्रेस को जारी वक्तव्यों के माध्यम से नहीं, सीमा पर गोलाबारी के माध्यम से व्यक्त कर रही है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि पाकिस्तान की ओर से घुसपैठ के लिए किसी प्रकार की क्षमायाचना के स्थान पर पुनः घुसपैठ और आक्रमण करने की गर्जना सुनाई दे रही है। इसके ठीक विपरीत भारत के नेता लाहौर घोषणा की भावना के अनुरूप चर्चा करने की बात कर रहे हैं।

यूरोपीय राजनीतिशास्त्र का सैकड़ों वर्षों पुराना सिद्धांत है कि जिस देश के साथ कोई भी जब चाहे बलात्कार कर सकता है, उस देश के साथ बलात्कार होता रहेगा और अंततोगत्वा वह देश समाप्त हो जाएगा। बलात्कारी को भगा देना ही पर्याप्त नहीं होता, उसे समुचित दण्ड देना ही चाहिए। भारत का इतिहास गवाह है कि सोमनाथ का मंदिर तोड़ने वाले को भी पहली बार में सफलता नहीं मिली थी। उसने कई बार आक्रमण किया था। हर बार उसे भगा दिया गया और उसने पुनः नयी शक्ति से आक्रमण किया। दण्ड देने से परहेज और आक्रामक की जगह प्रतिरक्षात्मक रूख अपनाने से ही हम कई विजयों के बाद अंततः पराजित हुए। लश्कर-ए-तोएबा जैसे उग्रवादी गुट पाकिस्तान में अपनी रैलियों में चिल्ला-चिल्ला कर कहते हैं कि वे गौरी और गजनवी के वंशज हैं पर भारत के शासक शायद इतिहास से कुछ भी सीखना नहीं चाहते।

कारगिल में चार सौ से अधिक सैनिक वीरगति को प्राप्त हुए, लगभग एक हजार सैनिक घायल हुए और लगभग दो हजार करोड़ रुपये खर्च हुए। घुसपैठियों ने लौटते हुए भी पूरे क्षेत्र में बारूदी सुरंगें बिछा दी हैं, जिनको साफ करने में कई वर्ष लग सकते हैं और कई निर्दोष भारतीयों को जान गँवानी पड़ सकती है। कारगिल में तोपें शांत हैं पर जम्मू, पुंछ और पश्चिमी सीमा के कई स्थानों पर पाकिस्तान द्वारा गोलीबारी चल रही है और इससे भारतीय गाँवों में जान-माल की हानि लगातार हो रही है। यह स्पष्ट है कि पाकिस्तान को लगता है कि वह जो चाहे दुस्साहस कर सकता है और इसके लिए उसे कोई दण्ड नहीं मिलेगा।

आज जब विश्व जनमत भारत के साथ खड़ा है तो भारत को अपनी मानसिकता बदलनी चाहिए। हार से बचने की मानसिकता को त्याग कर विजयी होने की मनःस्थिति को अपनाना होगा। आज जब विश्व मान रहा है कि कारगिल में पाकिस्तान दोषी था तो हमें पाकिस्तान से क्षतिपूर्ति की माँग करनी चाहिए। प्रत्येक गोली एवं बम की कीमत, प्रत्येक शहीद के परिवार और घायल को दी जाने वाली राशि, प्रत्येक हवाईजहाज के उड़ान का खर्च, प्रत्येक ग्रामवासी के टूटे हुए घर, मरे हुए मवेशी और जली हुई फसल के लिए मुआवजा इत्यादि का विस्तृत बिल बना कर हमें पाकिस्तान को सौंप देना चाहिए। एक मोटे आकलन के अनुसार यह राशि लगभग ढाई हजार करोड़ रुपये होगी। पाकिस्तान को स्पष्ट बता दिया जाना चाहिए कि आपसी चर्चा का सर्वप्रथम एवं सर्वप्रमुख विषय इस राशि की अदायगी होगा। भारत को इस संबंध में अपना दावा अंतर्राष्ट्रीय मंचों तथा अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय में भी प्रस्तुत करना चाहिए। हमें आई० एम० एफ० तथा विश्व बैंक से माँग करनी चाहिए कि पाकिस्तान को दिए जाने वाले ऋणों में से उक्त राशि काट कर भारत को देवें।

भारतीय विदेश नीति में सीधी द्विपक्षीय बातचीत को सदा एक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है और किसी भी विषय पर मध्यस्थता की बात उठते ही स्पष्ट इन्कार कर देना एक आदत सी बन गयी है। हमें डर

लगता है कि किसी विषय का अंतर्राष्ट्रीयकरण होने से हमारे राष्ट्रीय हितों पर कुठाराघत होगा। हमें इन डरों से मुक्ति पाकर आज के विश्व में आत्मविश्वास के साथ खड़ा होना सीखना चाहिए। पाकिस्तान हमारे इसी डर का लाभ उठा कर पिछले पचास वर्षों से काश्मीर मुद्दे के अंतर्राष्ट्रीयकरण का प्रयास कर रहा है तथा हमारे नेता इसे द्विपक्षीय बातचीत से सुलझाने की तोतारटंत लगाए हुए हैं। इससे पूरे विश्व को यह आभास होने लगा है कि शायद भारत दोषी है। शीतयुद्ध की समाप्ति के बाद के परिदृश्य में यह आवश्यक हो गया है कि भारत पिछले पचास वर्षों की अपनी कूटनीतिक परंपराओं को त्याग कर एक सशक्त राष्ट्र के रूप में आक्रामक कूटनीतिक पहल कर कारगिल प्रकरण में क्षतिपूर्ति की अपनी माँग के माध्यम से विश्व समुदाय के सामने पाकिस्तान को कटघरे में खड़ा कर दे।

कारगिल की प्रतिरक्षात्मक लड़ाई समाप्त हो गयी है। अब लड़ाई कागज, कलम और मेज की है। यदि कागज, कलम और मेज की लड़ाई में हम आक्रामक रुख नहीं अपनाते हुए पाकिस्तान का सही चेहरा विश्व के सामने प्रस्तुत करने में संकोच करेंगे तो हम एक और कारगिल को आमंत्रित करेंगे। यदि हम विश्व के सामने निर्भीक खड़े होकर अपनी बात कहने से डरेंगे तो विश्व हमें दोषी मानेगा। यदि हम मित्र एवं शत्रु में भेद नहीं करेंगे तो स्वाभाविक है कि विश्व में हमारा कोई मित्र नहीं होगा। कारगिल में बहा सैकड़ों वीरों का लहू इस देश के राजनेताओं से चीख-चीख कर कह रहा है कि नेहरू युग की विदेश नीति को दफना कर एक नये सशक्त भारत की विदेश नीति को स्थापित करें ताकि सोमनाथ का इतिहास फिर दोहराने से बचा जा सके।

१८ जुलाई, १९९९

२३ रेल दुर्घटना और सरकारी तंत्र की कार्यकुशलता

अवध-असम एक्सप्रेस अप गाड़ी थी पर डाउन ट्रेक पर दौड़ रही थी। अस्सी किलोमीटर प्रति घंटा की गति से दौड़ती यह गाड़ी सत्रह किलोमीटर तक दौड़ती चली गयी। मार्ग में कई छोटे स्टेशन, कई सिग्नल पॉइंट, कई रेलवे कर्मचारी, कई केबिन आये परन्तु किसी को यह समझ में नहीं आया कि अप गाड़ी डाउन ट्रेक पर चल रही है और इसे रोका जाना चाहिए। परिणामस्वरूप घायल में कम से कम दो सौ नब्बे व्यक्ति मारे गये और लगभग तीन सौ पंद्रह घायल हुए। रेल मंत्री ने त्याग पत्र दे दिया और कई उच्चाधिकारियों को या तो निलंबित कर दिया गया या फिर छुटी पर भेज दिया गया। सत्रह किलोमीटर तक गलत ट्रेक पर दौड़ती गाड़ी को जो रोक सकते थे वे सब अत्यंत कनिष्ठ कर्मचारी थे पर सजा भुगत रहे हैं वे लोग जो दुर्घटना स्थल पर मौजूद ही नहीं थे।

हमारे देश की यह विशेषता है कि प्रत्येक छोटे से छोटे कार्य के लिए हम किसी बड़े व्यक्ति को जिम्मेदारी सौंपते हैं। जातिवादी मानसिकता से ग्रसित भारतीय मानस हर उस कार्य को क्षुद्र मानता है जिसमें शारीरिक श्रम का प्रयोग होता है तथा उस क्षुद्र कार्य को करने वाले को जिम्मेदार व्यक्ति नहीं मानता। सर्वोच्च न्यायालय का मानना है कि विशेष योग्यता वाले पाठ्यक्रमों में आरक्षण के आधार पर प्रवेश से राष्ट्रीय हितों को आघात पहुँचता है, परन्तु आज देश में जो संकट की स्थिति उत्पन्न हो रही है वह साधारण योग्यता वाले छोटे-छोटे कामों में गैर-जिम्मेदाराना व्यवहार से उत्पन्न हो रही है। यह कैसी विडम्बना है कि विशेष योग्यता, विशेष तकनीक, असाधारण ज्ञान, असाधारण शौर्य एवं उच्च कोटि की प्रतिभाओं से सम्पन्न विद्वानों, इंजीनियरों, डाक्टरों, सैनिकों, उच्चाधिकारियों वाला यह देश चाँद पर आदमी को भेजने की क्षमता रखता है पर अपने घर में झाड़ू लगाना नहीं जानता।

भोपाल में एक चिकित्सा महाविद्यालय है – गाँधी मेडिकल कॉलेज और उसके साथ जुड़ा है हमीदिया चिकित्सालय। यदि किसी पूर्णतः स्वस्थ व्यक्ति को भी दस दिन के लिए इस अस्पताल में भर्ती करवा दिया जाए तो वह कम से कम एक-दो बीमारियों से तो ग्रसित हो ही जाएगा। हमीदिया अस्पताल की स्थिति को सुधारने के लिए कई बार अधीक्षक को बदला गया, कई बार स्वास्थ्य मंत्री महोदय ने अस्पताल के चिकित्सकों के साथ बैठकें की, कई तरह के अभियान चलाए गये जिनमें नेताओं और अधिकारियों ने तस्वीरें खिचवाई – पर हमीदिया अस्पताल नहीं बदला और शायद बदलेगा भी नहीं। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। सफाई के लिए जिम्मेदार व्यक्ति जिन्हें चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी कहा जाता है अपने कार्य के प्रति न तो स्वयं जिम्मेदार है, न ही समाज उन्हें इस कार्य के लिए जिम्मेदार मानता है।

जिसे जिम्मेदार माना जाता है, वह पारितोषिक का भी अधिकारी होता है और दण्ड का भी। भारत में कनिष्ठ सरकारी कर्मचारी को न तो पारितोषिक मिलता है और न ही दण्ड। न तो उसकी नियुक्ति योग्यता के आधार पर होती है और न ही पदोन्नति। आरक्षण, जातिवाद, समयबद्ध पदोन्नति, सिफारिश, खुशामद, राजनीति और शैतान की आँत की तरह उलझे नियम-कानून – इन सब में फँसे कर्मचारी के लिए कार्य गौण हो जाता है, कार्यकुशलता की बात भी बेमानी लगने लगती है और उपस्थिति पंजी पर हस्ताक्षर करना मात्र ही कर्तव्य मान लिया जाने लगता है।

विश्व के विभिन्न भागों में कर्मचारियों को काम करने एवं कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए अभिप्रेरित करने हेतु कई प्रकार के सिद्धांत प्रचलित हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में तीन विपरीत धाराएँ कार्य करती हैं। एक

धारा प्रेम पर आधारित है और मनुष्य को सम्मानजनक स्थान देते हुए उसे संगठन के प्रति अपनी जिम्मेदारी का आभास दिलाकर कार्यक्षेत्र में अधिकाधिक कार्य करने को प्रेरित करती है। दूसरी धारा के अंतर्गत नौकरी से निकाले जाने का भय दिखाया जाता है और बेरोजगारों की भीड़ में पहुँच जाने के डर से व्यक्ति कार्य करता है। तीसरी धारा पारितोषिक आधारित है अर्थात् कार्यकुशलता प्रदर्शित करने पर व्यक्ति को पदोन्नति अथवा कोई अन्य इनाम दिया जाता है। पूँजीवादी व्यवस्था में साधारणतः यह तीनों धाराएँ कमोबेश एक साथ काम करती हैं। इसके विपरीत साम्यवादी व्यवस्था में न तो व्यक्ति को नौकरी से निकाला जा सकता है, न ही उसे कोई विशेष इनाम दिया जा सकता है और न ही साम्यवादी प्रेम में विश्वास करते हैं। अतः साम्यवादी व्यवस्था में कार्यकुशलता की कमी एक बहुत बड़ी समस्या रही है। सोवियत यूनियन में ठीक कार्य न करने वाले श्रमिकों के लिए कठोरतम दण्ड का प्रावधान किया गया था और साइबेरिया के ठंडे इलाकों में उनके लिए सुधारगृह बनाये गये थे। इसके बावजूद कार्यकुशलता वांछित स्तर तक नहीं पहुँच पाई। सोवियत यूनियन के पतन में कार्यकुशलता के अभाव का बहुत बड़ा हाथ था।

पूँजीवादी और साम्यवादी व्यवस्था से भिन्न भारतीय व्यवस्था में सरकारी कर्मचारियों की अभिप्रेरणा संबंधी न तो कोई प्रावधान है और न ही इस संबंध में कोई आधिकारिक विचार। साम्यवादी व्यवस्था के समान ही भारत में भी सरकारी कर्मचारियों को न तो नौकरी से निकाला जा सकता है, न ही उन्हें कोई पारितोषिक दिया जा सकता है और प्रेम एवं सम्मान की बातें तो पूर्णतः बेमानी हैं। दूसरी ओर साम्यवादी व्यवस्था के समान भारत में साइबेरिया के सुधारगृह नहीं हैं। ऐसे में सरकारी कर्मचारी के लिए कार्य करने हेतु न तो कोई अभिप्रेरणा है और न ही कोई भय। अभिप्रेरणा और भय के स्थान पर हमने एक जातिवादी अमरबेल को बो दिया है। इस जातिवादी अमरबेल का उद्देश्य बाकी जो कुछ भी हो कार्यकुशलता बढ़ाना तो बिलकुल भी नहीं है।

भारत के संविधान के अनुच्छेद ३३५ में सरकारी नौकरियों में नियुक्ति के समय अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के दावों पर विचार करते समय प्रशासन की कार्यकुशलता की शर्त रखी गयी है। इस प्रकार की शर्त जोड़ने का स्पष्ट अर्थ यही निकलता है कि संविधान निर्माताओं का यह मानना था कि जातिगत आधार पर नियुक्तियाँ करने से कार्यकुशलता प्रभावित होने की संभावना है। होना तो यह चाहिए था कि जातिगत आधार पर हुई नियुक्तियों के कारण प्रशासन की कार्यकुशलता पर पड़ने वाले प्रभाव का विस्तृत अध्ययन निरंतर करवाया जाता और तदानुसार आरक्षण का अधिकतम प्रतिशत तय किया जाता। पर ऐसा करने के स्थान पर हमने एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना का प्रयास किया। कल्याणकारी जनता के लिए नहीं, जनता के सेवकों के लिए।

किसी भी नौकरी के दो पहलू होते हैं। पहला पहलू है व्यक्तिगत अर्थात् नौकरी में मिलने वाले वेतन-भत्ते इत्यादि से एक व्यक्ति का कल्याण होता है। दूसरा पहलू है सामाजिक जिसमें नौकरी पर नियुक्त व्यक्ति द्वारा किये कार्यों द्वारा समाज को लाभ मिलता है। पहला पहलू समाज द्वारा दूसरा पहलू प्राप्त करने के लिए चुकाई गयी कीमत है। समाज का हित स्पष्टतः इसी में है कि वह न्यूनतम कीमत पर अधिकतम लाभ लेने का प्रयास करे। समाज की सामूहिक इच्छाशक्ति का प्रतिनिधित्व करने वाले भारत के राजनेताओं ने लाभ की चिंता पूरी तरह छोड़ कर अधिकाधिक कीमत चुकाकर दानवीर बनने का प्रयास किया है।

कार्यकुशलता से पूरे देश और समाज के प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण होता है। आज के तकनीकी युग में कार्यकुशलता में थोड़ी सी कमी भी बहुत महँगी पड़ती है। रेलवे के सिगनल कर्मचारियों में से यदि प्रत्येक कर्मचारी ६६ प्रतिशत समय सही सिगनल दे और एक प्रतिशत गलत तो हर दूसरे दिन घायल जैसी रेल दुर्घटना हो। इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं। राष्ट्रीय सुरक्षा हो या खाद्य

उत्पादन या नगरीय प्रशासन – प्रत्येक क्षेत्र में कार्यकुशलता और गुणवत्ता के उच्चतम स्तर को प्राप्त करना हमारे अस्तित्व के लिए आवश्यक है। हमें राष्ट्रीय स्तर पर यह चेतना विकसित करनी होगी कि सरकारी कार्यकुशलता से राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक वर्ग का हित जुड़ा है। यदि कोई अयोग्य व्यक्ति चाहे जातिगत आधार पर, चाहे सिफारिश से, चाहे खुशामद से, चाहे किसी अन्य अनुचित तरीके से सरकारी नौकरी पाता है तो इससे पूरे राष्ट्र को एक ऐसा नुकसान होता है जिसकी भरपाई सरलता से संभव नहीं है।

सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान के अनुच्छेद १५(४) के जाति अथवा जनजाति उत्थान संबंधी निर्देशों को समाज के व्यापक हितों के परिपेक्ष्य में देखने की आवश्यकता पर बल देकर एक नये अध्याय का शुभारंभ किया है। समाज के व्यापक हित केवल विशेष योग्यता वाले पाठ्यक्रमों से ही नहीं जुड़े हैं अपितु प्रत्येक कर्मचारी के कार्यक्षेत्र से जुड़े हैं। चाहे वो सफाई कर्मचारी हो, चाहे सिगनलमैन, चाहे सीमा पर चौकसी करता सिपाही, चाहे सिंचाई विभाग का कर्मचारी, चाहे शिक्षक – प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र के लिए अलग-अलग ढंग से महत्वपूर्ण है और समाज के व्यापक हित उससे जुड़े हैं। यदि सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय से एक नई जाग्रति देश में आ सके और देश कार्यकुशलता बढ़ाने के कार्य को एक राष्ट्रीय आंदोलन के रूप में अपना सके तभी आगामी सदी में हमारा भविष्य उज्ज्वल होगा।

पिछले बावन वर्षों के इतिहास पर जब हम नजर डालते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे देश की गाड़ी को अप ट्रैक पर होना था और वह लगातार डाउन ट्रैक पर चलती रही है। इस स्थिति को देश के राजनेता और प्रबुद्धजन देख रहे हैं, समझ भी रहे हैं, पर 'चलता है' की मानसिकता से ऐसे जकड़े हैं कि हाथ उठाकर सिगनल देने का कष्ट भी नहीं उठाना चाहते। यथास्थितिवाद की पराकाष्ठा को प्राप्त हमारे देश के मार्गदर्शक शायद किसी घायसल की प्रतीक्षा में हैं। भगवान उन्हें और इस महान देश के देशवासियों को सदबुद्धि दे!

१५ अगस्त, १९६६

२४ विमान अपहरण तथा भारतीय शासन तंत्र के स्तंभ

१९६६ का अंतिम सप्ताह भारत के जनमानस पर लंबे समय तक दुखद स्मृति के रूप में छाया रहेगा। एक परमाणुशक्ति सम्पन्न राष्ट्र मुट्ठी भर आतंकवादियों के सामने लाचार नजर आया। आतंकवादियों ने अपनी चालें निहायत खूबसूरती से चली और भारत सरकार को मात माननी पड़ी। विपक्षी दलों ने अपने विरोध धर्म का निर्वहन तो किया पर कोई विकल्प नहीं सुझा पाये। मीडिया को तो जैसे इस घटना की सनसनी में मजा ही आ गया और उसने इस रोमांचक सर्पेंस भरी कहानी का भरपूर लाभ उठाया। इस दुखद घटना का पटाक्षेप होने के कुछ दिन बाद, अब यह आवश्यक है कि हम कुछ आत्मनिरीक्षण करें, अपने गिरेबान में झाँकें और उन सवालों से रूबरू हों जो इस घटनाक्रम के बाद हमारे देश के सामने मुँह बाये खड़े हैं।

भारत सरकार ने एक सौ पचपन बंधकों तथा अपहृत हवाई जहाज के बदले तीन आतंकवादियों को रिहा किया। रिहा किये गये आतंकवादियों में से मसूद अजहर पाकिस्तानी नागरिक है, मुश्ताक अहमद जरगर का जन्म श्रीनगर में हुआ था तथा अहमद उमर सैयद शेख ब्रिटिश नागरिक है। तीनों भारतीय जेलों में पाँच वर्ष से अधिक समय से विचाराधीन कैदी के रूप में बंद थे। दुनिया के किसी भी कोने में यह माना जाता है कि हत्या, बलात्कार, आतंकवादी हिंसा, अपहरण, सैन्य विद्रोह जैसे संगीन अपराधों में मुकदमे को परिणति तक पहुँचने के लिए पाँच वर्ष पर्याप्त समय है। न्यायशास्त्र का पहला सिद्धांत है कि जब तक दोष सिद्ध न हो जाए, कोई भी व्यक्ति निर्दोष होता है। विश्व की नजरों में भारत को इन तीन व्यक्तियों पर दोष सिद्ध हेतु पर्याप्त समय मिला और भारत दोष सिद्ध कर उन्हें दण्डित करने में असफल रहा। इस तर्क के आधार पर भारत सरकार ने तीन आतंकवादियों को नहीं अपितु तीन निर्दोष व्यक्तियों को रिहा कर अपने न्यायसंगत कर्तव्य का पालन किया। इस तर्क श्रंखला को आगे बढ़ाते हुए यह कहा जा सकता है कि जिस देश में निर्दोष व्यक्तियों को जेल से छुड़ाने के लिए लोगों को आतंकवादी तरीकों का सहारा लेना पड़े, वहाँ की कानून-व्यवस्था को सभ्य समाज के मानकों के अनुरूप कतई नहीं माना जा सकता।

कुछ लोगों को उपरोक्त तर्क विचित्र और अजीबोगरीब लगेंगे। लेकिन इन तर्कों के पीछे जो सच्चाई है, उसने हमारे देश की न्यायपालिका को कटघरे में खड़ा कर दिया है। यदि हमें दुनिया के साथ कदम-से-कदम मिला कर चलना है तो हमें समझना होगा कि विश्व दशकों तक चलने वाले मुकदमों को न्यायिक प्रक्रिया नहीं मजाक मानता है। दुनिया की नजरों में यदि किसी विचाराधीन कैदी पर पर्याप्त तर्कसंगत समय में दोष सिद्ध नहीं होता, तो वह कैदी निर्दोष मान लिया जाता है। यदि कोई देश अपराधियों और आतंकवादियों को समुचित ढंग से और पर्याप्त समय में दण्डित करने में असफल रहता है तो यह माना जाता है कि वह एक अक्षम राष्ट्र है। स्वाभाविक है कि आतंकवाद के विरुद्ध युद्ध में कोई भी देश एक असफल अक्षम राष्ट्र का साथ नहीं देना चाहेगा।

भारत में मुकदमों की धीमी प्रगति के लिए कई कारण गिनाये जाते हैं – गवाहों की कमी, साक्षियों का असहयोगात्मक रवैया, उलझी हुई कार्य प्रणाली, अक्षम वकील, अत्याधिक कार्यभार से त्रस्त न्यायाधीश इत्यादि। रोग बहुत पुराना है और रोग की जड़ें बहुत गहरी हैं। रोग का निदान तभी संभव है जब न्यायपालिका और विधायिका इस हेतु मिल कर प्रयास करें। दुःख की बात तो यह है कि न्यायपालिका और विधायिका दोनों में इस संबंध में इच्छाशक्ति का नितांत अभाव है। भारत के संविधान ने

न्यायपालिका को स्वनियंत्रण हेतु न्यायिक के साथ-साथ विधायी शक्तियाँ भी प्रदान की हैं परन्तु न्यायपालिका ने इनका प्रयोग स्वयं को सुधारने के लिए प्रायः नहीं किया है।

दूसरी ओर विधायिका ने भी न्यायिक सुधारों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया है। कुछ वर्ष पूर्व संसद ने आतंकवादी मामलों में पुलिस अधिकारियों को विशेष अधिकार देने हेतु टाडा पारित किया था परन्तु बाद में टाडा को समाप्त का दिया गया। आज जो विपक्षी दल आतंकवादियों की रिहाई पर हो हल्ला मचा रहे हैं, कुछ वर्ष पूर्व इन्हीं दलों ने टाडा को समाप्त करवाया था। विमान अपहरण की घटना के बाद भाजपा टाडा से भी अधिक कड़ा सुपर-टाडा लाने की माँग कर रही है। पर यदि हम पिछले कुछ दशकों के इतिहास पर नजर डालें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मूलभूत न्यायिक ढाँचे तथा प्रक्रियाओं में सुधार किये बिना पुलिस अफसरों को विशेष शक्तियों से सम्पन्न करने वाले कानूनों से सीमित सफलता मिली है। ऐसा नहीं लगता कि फटी चादर में इक्का-दुक्का पैबंद लगाने का प्रयास करने वाले इस प्रकार के प्रयत्नों को भविष्य में भी कोई विशेष सफलता मिल पाएगी। हमारे सांसदों और विधायकों को यह समझना होगा कि लच्छेदार भाषणों और सदन में शोर-गुल मचाने से आगे बढ़ कर उनकी महत्वपूर्ण जिम्मेदारी विधि निर्माण की है जिसे नजरअंदाज करना देश के लिए घातक सिद्ध हो रहा है।

न्यायपालिका और विधायिका की असफलता के बाद जन अपेक्षाओं का शासनतंत्र के तीसरे स्तंभ कार्यपालिका की ओर मुखातिब होना स्वाभाविक है। अपहरण के इस घटनाक्रम में मीडिया तथा जनता की निगाहें कार्यपालिका के विभिन्न अंगों पर केंद्रित रही हैं। प्रधानमंत्री, मंत्री परिषद के कुछ सदस्य, प्रधानमंत्री सचिवालय, अमतसर हवाई अड्डे के अनेक अधिकारी, भारत सरकार का खुफिया सूचना तंत्र, इत्यादि कार्यपालिका के विभिन्न अंगों की भूमिका पर विभिन्न स्तरों पर बहस चल रही है और शायद आगे भी चलती रहेगी। इनमें से कुछ का व्यवहार निश्चय ही अत्यंत जिम्मेदाराना और उच्च स्तरीय था। उदाहरण के लिए हवाई जहाज के पायलट कैप्टन शरण की सर्वत्र प्रशंसा हो रही है। उनका व्यवहार निरंतर दबाव के बावजूद अत्यंत परिपक्व तथा उच्च कोटि का था। अफसोस यह है कि यही बात कार्यपालिका के अन्य अंगों के बारे में नहीं कही जा सकती। कैप्टन शरण की चतुराई से अमतसर में जो स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ था, वह हमारी ढीली-ढाली व्यवस्था ने खो दिया। विमान अपहरण के पहले दो दिन तो ऐसा लगा था जैसे पूरी भारत सरकार को साँप सूँघ गया हो। जिस फुर्ती और त्वरित निर्णय क्षमता की ऐसे संकट के समय अपेक्षा की जाती है, वह अंत तक दिखायी नहीं दी।

अपवादों को दरकिनार कर मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि अपहरण संकट से कार्यपालिका की छवि में सुधार के स्थान पर गिरावट ही आई। यह टिप्पणी प्रधानमंत्री या किसी केन्द्रीय मंत्री के बारे में नहीं है। यह टिप्पणी उस मशीनरी के बारे में है जिसका सहारा ले कर प्रधानमंत्री या सभी मंत्रियों को कार्य करना होता है। चालीस साल पुरानी खटारा एम्बैसडर कार को चलाने के लिए आधुनिकतम कार रेस में भाग लेने वाले चालक को नियुक्त करने से कोई लाभ नहीं होता। साथ ही खटारा कार के चालक की गति और कार्यकुशलता का मूल्यांकन अंतर्राष्ट्रीय मानकों से नहीं किया जा सकता। भारत की कार्यपालिका की स्थिति उस खटारा कार की तरह हो गयी है जिसका उद्देश्य एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाना न हो कर, ड्रायवर एवं मैकेनिक को रोजगार उपलब्ध कराना बन गया है।

भारत में सरकार तथा उसके विभिन्न अंग एवं उपक्रम अपने प्राथमिक उद्देश्य को भुला रोजगार प्रदानकर्ता संस्था मात्र बन कर रह गये हैं। जहाँ अधिकतर नियुक्तियों एवं पदोन्नतियों का आधार योग्यता या कार्यक्षमता न हो कर जाति, लिंग, सिफारिश या कनेक्शन हो वहाँ गति, कार्यकुशलता और कार्य संस्कृति की बात बेमानी हो जाती है। सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान के कुछ अनुच्छेदों का सहारा ले कर पदोन्नति में जाति की भूमिका पर अंकुश लगाने का प्रयास किया था। पर यह हमारे श्रद्धेय प्रधानमंत्री महोदय को रास नहीं आया और वे संविधान में संशोधन कर पदोन्नतियों में भी जाति को

आधार बनाना चाहते हैं। भारत में केवल सेना ही जातिवादी अजगर के बंधन से मुक्त है। कोई आश्चर्य नहीं कि हर संकट के समय भारत के शासक और जनता सेना को याद करते हैं।

हमें अपने पुराने मित्र सोवियत यूनियन के पतन से सबक लेना चाहिए। सोवियत यूनियन की मुख्य समस्या वही थी जो भारत की सरकार एवं सरकारी प्रतिष्ठानों की है – कार्यकुशलता का अभाव। हम अपने सरकारी औद्योगिक प्रतिष्ठानों का तो संभवतः निजीकरण कर सकते हैं परन्तु शासनतंत्र के प्रमुख अंगों की कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए ऐसा कोई शार्टकट उपलब्ध नहीं है। हमें यह समझना होगा कि एक सीमा तक ही कल्याणकारी एजेंडा का वजन शासन तंत्र पर लादा जा सकता है और उस सीमा से अधिक लादने पर पूरा तंत्र ही चरमराने लगता है और राष्ट्र के रूप में देश के अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह लगने लगता है। भारत में उपरोक्त सीमा को बहुत पहले लाँघा जा चुका है और सच तो यह है कि भारतीय शासन तंत्र का प्रत्येक अंग चरमराने लगा है।

विमान अपहरण ने हमारे शासन तंत्र के तीनों अंगों – न्यायपालिका, कार्यपालिका और विधायिका – की कमजोरियों को रेखांकित किया है। यह देश का सौभाग्य था कि बिना किसी विशेष नुकसान के पटाक्षेप हो गया। किन्तु इस घटना क्रम से उभरे संकेतों को नजरअंदाज करना देश के हित में नहीं होगा। हमें अपने शासनतंत्र के प्रत्येक स्तंभ की कार्यकुशलता को सुधार कर अंतर्राष्ट्रीय मानकों के अनुरूप बनाना होगा। हमें यह अच्छी तरह समझना होगा कि सुचारू न्यायपालिका, कार्यशील कानून तथा कार्यकुशल सरकारी कर्मचारियों के बिना न तो वैश्वीकरण संभव है, न उद्योग और न ही किसी भी प्रकार की उन्नति एवं प्रगति।

हमें अपने इतिहास से भी सबक लेना चाहिए। दिल्ली में नादिरशाह के मचाये कल्लेआम को गर्व से याद करने वाले अफगानिस्तान में सत्तासीन हैं और उनको पाकिस्तान से खुल कर समर्थन मिल रहा है। विमान अपहरण उनके भारत के विरुद्ध छेड़े गये महायुद्ध का एक अंग है। हमें यह समझना होगा कि यह महायुद्ध जीतने के लिए केवल परमाणु बम पर्याप्त नहीं है। यह महायुद्ध तो हर गली हर मोड़ पर लड़ा जाना है। कंधार की हवाई पट्टी पर तो हम हार गये पर अभी तो इस महायुद्ध का पहला चरण है। यदि हम इस हार से सबक लेकर अपने शासन तंत्र के प्रत्येक स्तंभ को मजबूत कर सके तो विजय हमारी होगी अन्यथा एक बार फिर बर्बर वहशी ताकतें जीत जाएँगी और सभ्यता का इतिहास हमें कोसेगा।

६ जनवरी, २०००

२५ महँगी तकनीकी शिक्षा - सामाजिक दृष्टिकोण

पिछले कुछ वर्षों में इंजीनियरिंग और अन्य तकनीकी महाविद्यालयों में फीस और अन्य खर्च इतने बढ़ गये हैं कि अच्छी तकनीकी शिक्षा अधिकतर मध्यम और निम्न मध्यम वर्गीय परिवारों के सामर्थ्य के बाहर पहुँच गयी है। समाज के बहुसंख्यक वर्ग की सामर्थ्य के बाहर पहुँची उच्च शिक्षा के सामाजिक दुष्प्रभावों पर विचार करना आवश्यक है। आर्थिक सुधारों के पक्षधर समस्त तकनीकी शिक्षा को राष्ट्र के विकास एवं उन्नति के लिए आवश्यक पूँजी-निवेश के रूप में न देखकर तकनीकी शिक्षा को विलासिता की श्रेणी में रख प्राथमिक शिक्षा की बात करते हैं। उनके खूबसूरत तर्कों के पीछे विकसित देशों की जो कुटिल चालें छिपी हैं, उन्हें समझना और देश की जनता को समझाना आज के वक्त की जरूरत बन गया है। आज भारत एक परमाणु शक्ति है और अपनी तकनीकी क्षमताओं के कारण दुनिया के सर्वश्रेष्ठ तकनीकी देशों में से एक माना जाता है। इस स्तर तक पहुँचने के पीछे स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद की जिन नीतियों का हाथ रहा है उन्हें समझना होगा और उन नीतियों को बिना सोचे-समझे बदलकर अमरीकी विश्वविद्यालय व्यवस्था की नकल करते हुए बेहद महँगी तकनीकी शिक्षा की वकालत करने वालों को बेनकाब करना होगा।

स्वतंत्रताप्राप्ति के पश्चात भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने तकनीकी शिक्षा को देश के विकास की कुंजी के रूप में देखा। उनकी इस विचारधारा के कारण ही विभिन्न इंजीनियरिंग महाविद्यालयों, आई०आई०टी०, आर०ई०सी० इत्यादि के लिए व्यापक पूँजी निवेश किया गया। नेहरूवादी समाजवादी विचारधारा में तकनीकी शिक्षा को दो रूपों में देखा गया – (क) सामाजिक सीढ़ी के रूप में तकनीकी शिक्षा एक ऐसे माध्यम का रोल अदा करती है जिससे आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्ग का व्यक्ति उन्नति कर सकता है तथा (ख) देश की तकनीकी क्षमताओं के विकास के लिए आवश्यक पूँजी निवेश के रूप में। समाज के सभी वर्गों में से सर्वाधिक प्रतिभावान छात्रों का चयन करना और उन्हें सर्वोत्तम तकनीकी शिक्षा ऐसी दरों पर उपलब्ध कराना जिसे गरीब से गरीब परिवार का छात्र वहन कर सके – नेहरू शिक्षा नीति का मूलाधार था। अनुदानसमर्थित सस्ती तकनीकी शिक्षा की नीति के कारण ही अस्सी के दशक तक आई०आई०टी० में बी०टेक० के छात्रों के लिए शिक्षण शुल्क मात्र दो सौ रुपये वार्षिक था। इसके अतिरिक्त लगभग हर उस विद्यार्थी के लिए छात्रवृत्ति की व्यवस्था थी जो मेस (भोजन) इत्यादि का खर्च वहन करने में असमर्थ होता था। उस काल में सड़क किनारे बैठ जूते सिलने वाले मोची का बेटा भी आई०आई०टी० में मिल जाता था और फुटपाथ पर मछली बेचने वाले का भी और क्लर्क का भी।

नेहरूयुग की नीतियों के फलस्वरूप ही आई०आई०टी० एवं आर०ई०सी० के लिए होने वाली प्रवेश परीक्षाओं ने ऐसी राष्ट्रीय घटना का रूप ले लिया जिसमें लगभग दस लाख विद्यार्थी प्रतिवर्ष भाग लेते और मुट्ठी भर विद्यार्थी चुने जाते। स्वाभाविक है कि इस व्यापक चयन प्रक्रिया से जो प्रतिभा उभर कर आती वह पूरे विश्व में अद्वितीय होती तथा विश्वस्तरीय प्रतियोगिता के लिए सक्षम होती। नेहरूयुग में राष्ट्रस्तरीय प्रतिभा-चयन एवं प्रतिभा के संरक्षण तथा विकास की जो नीतियाँ अपनायी गयी उन्हीं के फलस्वरूप आज पूरे विश्व में भारतीय तकनीकी क्षमताओं की धाक है और भारतीय इंजीनियरों की सफलता की गाथाएँ विश्व के कोने-कोने से आ रहीं हैं।

पश्चिमी देशों ने नेहरूजी की नीतियों का विरोध किया और नेहरू शिक्षा नीति को एक गरीब देश के लिए हानिकारक विलासिता कहा। विकसित देशों द्वारा सुझाये विकासपथ के अनुसार विकासशील देशों

को अपने संसाधनों का उपयोग प्राथमिक शिक्षा तथा मूलभूत तकनीकी कुशलताओं के विकास हेतु करना चाहिए और उच्च तकनीक के क्षेत्र में कदम रखने का दुस्साहस नहीं करना चाहिए। यह मैकाले की उपनिवेशवादी शिक्षा नीति का आधुनिक संस्करण है – विकासशील देशों को श्रमिक, क्लर्क, मैकेनिक इत्यादि तैयार करने चाहिए और उच्च प्रौद्योगिकी के लिए विकसित देशों पर आश्रित रहना चाहिए; जो भी विकासशील देश उच्च प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में आत्मनिर्भर बनने का या शक्तिशाली देशों के एकाधिकार को चुनौती देने की क्षमताएँ विकसित करने का प्रयास करे, उसकी तीखी आलोचना की जाए। इतिहास पंडित नेहरू तथा इंदिरा गाँधी का इस बात के लिए सदा आभारी रहेगा कि उन्होंने भारत की तकनीकी क्षमताओं के विकास की आधारशिला रखने के कार्य में विकसित देशों के दबावों की परवाह नहीं की।

इसके ठीक विपरीत मनमोहन सिंह तथा उनके पदचिन्हों पर चलने वाले महापुरुष विकसित देशों के बिछाये जाल में फँस गये हैं। सीधी सी बात है कि यदि आई० आई० टी० के लिए जो दो हजार छात्र चुने जाने हैं वे दो लाख की जगह मात्र पचास हजार में से चुने जाते हैं (क्योंकि शेष डेढ़ लाख आर्थिक रूप से सक्षम नहीं हैं) तो चयनित विद्यार्थियों में योग्यता एवं प्रतिभा का स्तर नीचे जाएगा और कई प्रतिभावान छात्र निराश हो जाएँगे। इससे अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विकसित देशों के लिए भारत से प्रतिस्पर्धा करना आसान हो जाता है और भारत को दोहरा नुकसान होता है:—

(क) गरीब परन्तु प्रतिभाशाली युवाओं का मेहनत तथा योग्यता के बल पर सफल होने के सिद्धांत से विश्वास उठ जाता है। अपनी और अपने परिवार की गरीबी समाप्त करने की एकमात्र आशा के धूमिल होने पर इस युवा वर्ग को जो निराशा और कुंठा होती है, वह उसकी उच्चस्तरीय बुद्धि एवं प्रतिभा के साथ मिल विस्फोटक रूप धारण कर पूरे समाज में विध्वंस का तांडव कर सकती है।

(ख) देश कुछ बेहतरीन इंजीनियरों की सेवाओं से वंचित हो जाता है तथा फलस्वरूप राष्ट्र की प्रौद्योगिकी क्षमताओं के निर्माण की प्रक्रिया कमजोर पड़ती है। हमारे राजनेता जो पोखरण, सुपरकम्प्यूटर इत्यादि भारत की तकनीकी क्षमताओं पर गर्व करते नहीं थकते, उन्हें शायद यह आभास ही नहीं है कि इन क्षमताओं के निर्माण के पीछे तकनीकी शिक्षा में कई दशकों तक किया गया पूँजीनिवेश है।

वर्तमान में आई० आई० टी० मुंबई में शिक्षण शुल्क लगभग चौदह हजार रुपये प्रति सेमेस्टर (चार माह) है। एक विद्यार्थी को आई. आई. टी. में अध्ययन हेतु लगभग पाँच हजार रु प्रतिमाह की आवश्यकता होती है। भारत के कितने लोग अपने पुत्र/पुत्री की शिक्षा हेतु इस प्रकार की राशि प्रति माह खर्च करने की क्षमता रखते हैं? देश की लगभग नब्बे प्रतिशत जनता के लिए तो यह बिल्कुल असंभव बात है। यहाँ तक कि अधिकतर सरकारी कर्मचारियों और औद्योगिक क्षेत्र के श्रमिकों, जिन्हें साधारण जनता से अधिक भाग्यशाली माना जाता है, के लिए भी अपने बच्चों को आई. आई. टी. में भेज पाना एक असंभव स्वप्न के समान हो गया है।

अन्य इंजीनियरिंग महाविद्यालयों में भी लगभग ऐसी ही स्थिति है। मध्यप्रदेश के शासकीय इंजीनियरिंग महाविद्यालयों में वार्षिक शिक्षण शुल्क दस हजार रु है और होस्टल में रह कर अध्ययन करने वाले छात्र को लगभग तीन हजार रुपये प्रति माह (शिक्षण शुल्क सहित) खर्च करना पड़ता है। यह राशि वहन करना भी किसी लिपिक अथवा प्राथमिक शाला के शिक्षक अथवा छोटे किसान अथवा साधारण व्यापारी के बेटे/बेटी के लिए संभव नहीं है।

यह आश्चर्यजनक बात है कि भारत के शैक्षणिक समुदाय, चाहे वो शिक्षक हो या छात्र संगठन, ने तकनीकी शिक्षा की बढ़ती कीमतों के बारे में कोई आवाज नहीं उठाई है। सेमिनार, संगोष्ठी, परिचर्चा

आदि में तरह-तरह के अध्ययनों के निष्कर्ष प्रस्तुत करने वाले अनुसंधानकर्ताओं ने तकनीकी शिक्षा की आसमान छूती कीमतों के सामाजिक दुष्प्रभावों के बारे में कोई गंभीर अध्ययन नहीं किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि देश का शैक्षणिक और राजनैतिक वर्ग प्रतीक्षा में है कि युवाओं की कुंठा बढ़ते हुए विस्फोटक बन जाए। कहा भी गया है कि हृदय से गुजर जाना है दवा हो जाना। शायद युवा वर्ग की कुंठा को हृदय से गुजर जाने कई वर्ष लग जाएँ। इन वर्षों में देश की तकनीकी क्षमताओं पर जो कुठाराघात हो चुका होगा, उसका प्रभाव तत्काल नहीं दिखेगा परन्तु आने वाले कई दशकों तक वह हमारी विकास और प्रगति की संभावनाओं को क्षीण करता रहेगा। अत्यावश्यक है कि शैक्षणिक समुदाय नींद से जागे और देश के नीति निर्धारकों को सही मार्गदर्शन दे।

तकनीकी शिक्षा और उच्चस्तरीय तकनीकी संस्थाओं को अनुदान देने के विरुद्ध जो तर्क दिये जाते हैं उनका मुँहतोड़ जवाब देने के लिए शैक्षणिक समुदाय को विस्तृत अध्ययन करना होगा। एक और तो यह गणना की जानी चाहिए कि पिछले पाँच दशकों में देश ने तकनीकी शिक्षा पर कुल कितना धन व्यय किया और दूसरी ओर यह आकलन किया जाना चाहिए कि यदि भारत ने हर प्रकार की प्रौद्योगिकी विदेशों से आयात की होती तो कितना खर्च करना पड़ता। परमाणु बम, मिसाइल, अंतरिक्ष प्रौद्योगिकी, सुपरकम्प्यूटर, उच्चकोटि के बीज, दवाईयों, कीटनाशक, वाहन इत्यादि सभी प्रकार की प्रौद्योगिकी के आयात हेतु संभावित मूल्य तथा देय वार्षिक रायल्टी का आकलन करना अत्यंत कठिन तो है पर असंभव नहीं। इनमें से कुछ तकनीक तो विदेश से प्राप्त कर पाना संभव ही नहीं है। फिर भी एक मोटा आकलन कर भारत के इंजीनियरों द्वारा विकसित प्रौद्योगिकी के बाजार मूल्य की तुलना देश द्वारा तकनीकी शिक्षा पर खर्च की गयी राशि से करना चाहिए। यह पाया जाएगा कि देश ने तकनीकी शिक्षा पर जो निवेश किया है, उससे कई गुना लाभ देश को प्राप्त हो चुका है।

इस देश का दुर्भाग्य है कि उच्च शिक्षा हेतु अनुदान एवं समर्थन को प्राथमिक शिक्षा के विरोध के रूप में देखा जाता है। प्राथमिक शिक्षा के महत्व को नकारा नहीं जा सकता। आवश्यकता शिक्षा पर कुल खर्च को बढ़ाने की है। भारत सरकार ने १९६८-६९ के बजट में शिक्षा के लिए रु ७०५० करोड़ का प्रावधान किया। यह देश के सकल घरेलू उत्पाद का आधा प्रतिशत भी नहीं है और केन्द्र सरकार के कुल खर्च का मात्र २.६३ प्रतिशत है। स्पष्ट है कि यह राशि बहुत कम है तथा इसे बढ़ाने की आवश्यकता है।

यह भी स्पष्ट किया जाना आवश्यक है कि तकनीकी विद्यालयों की वर्तमान दरों से समृद्ध वर्ग को सबसिडी देने का प्रभाव उत्पन्न होता है। आई० आई० टी० एवं अन्य शासकीय इंजीनियरिंग महाविद्यालयों को सरकार से एक बड़ी राशि बजट अनुदान के रूप में मिलती है। फीस वृद्धि कर इन संस्थाओं के दरवाजे गरीबों की पहुँच से दूर करने का अर्थ यह होता है कि बजट की राशि का उपयोग उन अमीरों की शिक्षों के लिए हो रहा है जो ऊँची दरों पर फीस देने हेतु सक्षम हैं। सबसिडी का विरोध करने वाले महानुभावों को चाहिए कि वे इन समस्त संस्थाओं को निगमों में परिवर्तित करने, बजट समर्थन पूरी तरह बंद करने तथा इन संस्थाओं में हुए पूँजी निवेश पर समुचित लाभ सुनिश्चित करने की माँग करें। स्पष्ट है कि ऐसा करने पर इन संस्थाओं और साथ ही भारत में तकनीकी शिक्षा के अंतिम संस्कार की पूरी तैयारी हो जाएगी।

पिछली सहस्राब्दी में बारूद और बंदूकों के बल पर देश गुलाम बनाए गये थे। आगामी सहस्राब्दी में ज्ञान एवं बुद्धि का शक्ति के रूप में उपयोग कर शोषण किया जाएगा। इस नवउपनिवेशवादी युग में विकसित देशों की यह चाल है कि समस्त बौद्धिक संपदा पर उनका एकाधिकार हो जाए और इस एकाधिकार के माध्यम से वे आने वाली शताब्दियों में अपनी समृद्धि को अक्षुण्ण रख सकें। ज्ञान एवं बुद्धि आधारित नवउपनिवेशवादी युग में उच्च तकनीकी शिक्षा न तो विलासिता है और न ही संभ्रांत वर्ग

की चोंचलेबाजी। तकनीकी शिक्षा एक गरीब देश की गरीबी दूर करने के लिए आवश्यक पूँजी निवेश है और साथ ही हर उस युवा के लिए आशा की एकमात्र किरण है जिसके पास बुद्धि तथा प्रतिभा तो है पर जिसके माता-पिता न तो धन्ना सेठ हैं और न ही रिश्वतखोर नेता या अधिकारी। तकनीकी शिक्षा की ऊँची कीमत केवल शिक्षकों, विद्यार्थियों तथा पालकों की चिन्ता का विषय नहीं है। भारत के विकास एवं उन्नति के बारे में चिंतन करने वाले हर व्यक्ति को इस विषय में गंभीरता से सोचना चाहिए तथा प्रयास करना चाहिए कि आने वाली शताब्दी में देश का गरीब से गरीब छात्र उच्चतम तकनीकी शिक्षा प्राप्त कर सके।

३१ अक्टूबर, १९६६

राजीव गाँधी प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय एवं तकनीकी शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान, भोपाल द्वारा २३ अक्टूबर, १९६६ को भोपाल में एक राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया था। विषय था 'अगली सहस्राब्दी में तकनीकी शिक्षा – हमारी तैयारी'। इस अवसर पर लेखक को विशेष रूप से संबोधित करने के लिए आमंत्रित किया गया था। उपरोक्त लेख राष्ट्रीय संगोष्ठी में उनकी प्रस्तुति पर आधारित है।

२६ एक डूबत खाते की कथा

एक समय की बात है कि वह देशभक्ति के जोश से भरा एक युवा इंजीनियर था। उसने देश के सर्वाधिक प्रतिष्ठित संस्थान से अपनी पढ़ाई पूरी की थी। उसके सहपाठी अमरीका जाने की तैयारी कर रहे थे। परन्तु देश भक्ति के जज्बे से भरा वह युवा इंजीनियर अपने देश की सेवा करने के लिए रुक गया। लगभग बीस वर्ष बाद आज वह मात्र एक डूबत खाता है। दीवालियेपन की कगार पर खड़ा वह कानून की मोटी-मोटी किताबों में सिर खपाता रहता है और अपना सिर पीटता रहता है।

उसने शुरुआत एक बेहतरीन कम्पनी में नौकरी से की थी परन्तु उद्यमी बनने के लिए उसने बहुत शीघ्र नौकरी छोड़ दी। कुछ प्रारंभिक पूँजी एकत्र करने में पाँच वर्ष लग गये। उसके बाद १९८७ में देश के सबसे बड़े बैंक की मदद से उसने एक लघु उद्योग की स्थापना की और यहीं से इस त्रासदी का प्रारंभ हुआ। एक बड़े उद्योग ने उस छोटी इकाई का संपूर्ण उत्पादन क्रय करने का लिखित वायदा किया था, परन्तु वह वायदा कागजी और खोखला था। १९८८ में उत्पादन प्रारंभ होने के साथ ही उस युवा उद्यमी को समझ में आ गया कि उसने जिस शिशु को जन्म दिया है, उस शिशु के स्वस्थ और दीर्घायु होने की कोई संभावना नहीं है। उद्यमी ने अपनी चिंताओं से बैंक को अवगत कराया और शिशु की जीवनरक्षा हेतु विभिन्न योजनाओं पर विचार-विमर्श किया। यह विचार-विमर्श अनेक बार और अनेक स्तरों पर हुआ। हर बार उससे कुछ कागज तैयार करने को कहा जाता और अगली बार कुछ और कागज माँग लिए जाते। चक्कर-पे-चक्कर – कभी यह अधिकारी, कभी वो अधिकारी, कभी बैंक की शाखा, कभी क्षेत्रीय कार्यालय, कभी कोई अन्य कार्यालय। दिन, महीने और साल गुजरते जा रहे थे। चक्कर लगाते हुए उद्यमी को कभी-कभी ऐसा लगता था कि उसकी हालत एक भिखारी से भी बदतर हो गई थी। भूले-भटके यदि उसका स्वाभिमान कभी जाग उठता, तो उसे लताड़ा जाता। उच्चाधिकारियों से शिकायत करने पर उपदेश सुनने को मिलते कि उसे व्यापारी की तरह व्यवहार करना सीखना चाहिए।

अंततोगत्वा बैंक ने उसे कोई सहायता प्रदान करने से इंकार कर दिया। बैंक ने इकाई का अधिग्रहण करने से भी इंकार कर दिया और इकाई को बेचने में उद्यमी की मदद करने से भी इंकार कर दिया। कहा गया कि बैंक की नियमावली में ऐसा कोई प्रावधान ही नहीं है। बैंक ने उद्यमी के खाते में लेन-देन बंद कर दिया और फिर भी अपेक्षा करता रहा कि उद्यमी इकाई को चालू रखेगा। उद्यमी ने बाध्य हो कर खाता दूसरे बैंक में खोला तो मूल बैंक ने साम-दाम-दंड-भेद से उसका खाता बंद करवाने का प्रयास किया। इस सब के दौरान उद्यमी समस्या को किसी भी तरह सुलझाने के लिए निवेदन करता रहा पर बैंक को समस्या सुलझाने में कोई रुचि नहीं थी। १९९३ में बैंक ने न्यायालय में मुकदमा दायर कर दिया। आज सात साल बाद भी वह बेचारा बैंक से बार-बार अनुरोध कर रहा है कि बैंक समस्त परिसम्पत्तियों का अधिग्रहण कर उसे मुक्त करे। पर बैंक न्यायालय के आदेश की प्रतीक्षा में है। अभी कुछ सप्ताह पूर्व उसने अपनी क्षमतानुसार एकमुश्त राशि देकर समझौता करने का भी प्रस्ताव किया पर बैंक कोई चर्चा ही नहीं करना चाहता। मुकदमा चल रहा है और चलता रहेगा। जीवन के सर्वोत्तम काल को एक निरर्थक चक्रव्यूह में होम कर वह भूतपूर्व युवा देशभक्त उस घड़ी को कोसता है जब उसने देशसेवा के लिए भारत में रुकने का निर्णय लिया था।

यह कहानी बहुत से लोगों को ऊब भरी लगे क्योंकि लोग सफलता की कहानियाँ सुनना चाहते हैं, असफलता की नहीं। लेकिन सत्य यह है कि सफलता की मंजिल तक पहुँचने के लिए असफलता प्रथम

सोपान है। उद्यमिता के बिना संपन्नता असंभव है और असफलता से डरने वाले के लिए उद्यमिता असंभव है। जो समाज असफलता को सहज भाव से स्वीकार नहीं कर सकता, वह उन्नति और प्रगति के केवल स्वप्न देख सकता है।

एक लंबे समय तक समाजवादी विचारधारा का पालन करते हुए भारत में व्यापारियों को शैतान का साक्षात अवतार समझा जाता था और उद्यमियों को शक की निगाह से देखा जाता था। उदासीकरण और आर्थिक सुधारों की बड़ी-बड़ी बातों के बावजूद भारतीय बैंकों और उनको नियंत्रित करने वाली शक्तियों की मानसिकता नहीं बदली है। भारतीय सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अफसरशाही और लालफीताशाही की विषबेल का प्रभाव दिखाई देता है। सरकारी स्वामित्व में भारतीय बैंकों एवं वित्तीय संस्थानों में भी यह विषबेल खूब फली-फूली है। ऋणों की कमजोर वसूली या बैंकिंग भाषा में गैर-निष्पादित आस्तियों में लगातार वृद्धि के लिए भारतीय बैंक एवं वित्तीय संस्थान स्वयं को छोड़ हर किसी – उद्यमी, व्यापारी, सरकार, न्यायालय, न्यायिक व्यवस्था इत्यादि – पर चीख-चीख कर दोषारोपण करते हैं। रुदन, क्रंदन और विलापन करते हुए वे भूल जाते हैं कि समस्या उन्ही के द्वारा पैदा की गयी है और समस्या के निवारण में सबसे बड़ी बाधा भी उनकी आंतरिक व्यवस्थाएँ और लालफीताशाही है।

किसी भी ऋण के संबंध में बैंक प्रबंधन को तीन चरणों में स्वविवेक का प्रयोग करना पड़ता है – (क) ऋण प्रस्ताव एवं उद्यमी का मूल्यांकन (ख) ऋण की अवधि के दौरान समर्थन, अतिरिक्त वित्तीय सहायता या गैर-वित्तीय गतिविधियों से उद्यमी की मदद (ग) निर्गम का निर्णय और निर्गम का मार्ग। उपरोक्त तीनों चरणों पर भारतीय बैंक एवं वित्तीय संस्थान विवेक और बुद्धि का प्रयोग करने के स्थान पर नियमबद्ध तरीके से प्रक्रियात्मक आवश्यकताओं की खानापूर्ति करते हैं।

ऋण प्रस्ताव एवं उद्यमी का मूल्यांकन करने हेतु भारतीय बैंकों एवं वित्तीय संस्थानों की दक्षता लगभग शून्य है। फलस्वरूप एक ओर तो वे हवा के साथ बहते हैं और दूसरी ओर अधिकतम प्रतिभूतियाँ लेने का प्रयास करते हैं। यदि हवा सॉफ्टवेयर की बह रही है तो खाद्य पदार्थों के क्षेत्र में उद्योग लगाने के इच्छुक व्यक्ति से भी सॉफ्टवेयर की इकाई लगाने को कहा जाएगा। योग्यतम उद्यमी समुचित प्रतिभूतियों के अभाव में नकार दिया जाता है और प्रबंधन क्षमता में शून्य व्यक्ति स्वीकार्य हो जाता है। इससे स्वाभाविक है कि धूर्तों की चाँदी हो जाती है। हवा के रूख के अनुसार तथा बैंक एवं वित्तीय संस्थाओं की लालफीताशाही के अनुरूप कुछ अधकचरा तथ्यों के आधार पर प्रोजेक्ट रिपोर्ट नामक एक आधा सच्चा आधा झूठा दस्तावेज तैयार करने वाली कुछ दुकानें खुल गयी हैं। हवा का रूख भाँपकर इन दुकानों से प्रोजेक्ट रिपोर्ट तैयार करवाई जाती है और कुछ ले-देकर ऋण स्वीकृत हो जाता है। हवा के रूख के अनुसार वित्तपोषण करने से एक भेड़ चाल चलती है, जिसके कारण जिस किसी क्षेत्र विशेष को बैंक एवं वित्तीय संस्थान वित्तपोषित करते हैं, वह पूरा उद्योगक्षेत्र अत्याधिक क्षमतानिर्माण के कारण बीमार हो जाता है। प्रतिभूतियों के आधार पर तथा लेन-देन के आधार पर किए गये अक्षम उद्यमियों के चयन के कारण बीमारी विकराल रूप धारण कर लेती है।

सर्वमान्य सिद्धांत है कि ऋण प्रदान करने के पश्चात ऋणदाता का यह कर्तव्य होता है कि वह ऋणप्राप्तकर्ता पर लगातार नजर रखे और यदि कोई विपरीत संकेत मिलें तो तुरंत, बिना किसी देरी के समुचित कार्यवाही करे। हमारे देश में बैंक और वित्तीय संस्थान समस्त आवश्यक जानकारी एकत्र करते हैं और उसे अत्यंत व्यवस्थित ढंग से रिपोर्टों तथा फाइलों में कैद कर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं और गहरी निद्रा में सो जाते हैं। विडंबना यह है कि इस निद्रा से उन्हें जगाने का काम बेचारे उद्यमी का होता है। प्रत्येक बैंक तथा वित्तीय संस्थान में टेबलों की एक लंबी श्रंखला होती है। उद्यमी को अपनी बात सुनाने के लिए हर टेबल से होकर गुजरना पड़ता है। इनमें से प्रत्येक को कार्य रोकने

के लिए वीटो का अधिकार होता है और जब तक चाहे प्रकरण पर सोने का अधिकार भी होता है। इन मौलिक अधिकारों पर कोई वरिष्ठतम अधिकारी भी अतिक्रमण नहीं कर सकता। बेचारा उद्यमी हर टेबल की अहंतुष्टि करने हेतु साष्टांग प्रस्तुत हो जाता है। ऋणी को समर्थन एवं सहायता दी जाए या निर्गम का रास्ता ढूँढा जाए – यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न इस अहंतुष्टिचक्र में उलझ कर रह जाता है। भारतीय बैंकर को यह विचार कतई नहीं आता कि उक्त प्रश्न संबंधी निर्णय में देरी से उद्यमी का कम और बैंक (वित्तीय संस्थान) का अधिक नुकसान होता है।

निर्गम मार्ग अर्थात् बाहर निकलने का रास्ता सम्मानजनक भी हो सकता है – यह विचार भारतीय बैंकों एवं वित्तीय संस्थानों के समझ के परे की बात है। उन्हें तो बस केवल एक ही मार्ग मालूम है – ऋण वापसी का नोटिस जारी कर मुकदमा दायर करना। यह बैंकर की समस्त परेशानियों का अंत होता है। अपनी समस्त गलतियों, भूलों एवं मूर्खतापूर्ण कार्यों को भुला वह ऋण को गैर-निष्पादित आस्ति की श्रेणी में दर्ज करता है और उद्यमी को कटघरे में खड़ा कर देता है। विश्व के किसी भी अन्य भाग में बैंकर से पहली अपेक्षा यह की जाती है कि वह यथासमय उद्यमी के सहयोग से इकाई के स्वत्व हस्तांतरण का प्रयास करे। प्रत्येक इकाई में कुछ अमूर्त परिसंपत्तियाँ होती हैं – जैसे साख, विशेष ग्राहक, कुशल कर्मचारी इत्यादि। कई बार अमूर्त परिसंपत्तियाँ भूमि, भवन, मशीनरी इत्यादि मूर्त परिसंपत्तियों से अधिक मूल्यवान होती हैं। मुकदमा दायर करते ही अमूर्त परिसंपत्तियाँ वाष्पीकृत हो जाती हैं। सीधी सी बात है कि जिन्दा घोड़ा मरे घोड़े से अधिक कीमती होता है और कोई भी न्यायालय अथवा ट्रिब्यूनल (न्यायाधिकरण) घोड़े की लाश दिलवा सकता है, जिन्दा घोड़ा नहीं।

भारतीय बैंकों एवं वित्तीय संस्थानों की लालफीताशाही के कारण दो प्रमुख क्षतियाँ हुई हैं। एक ओर तो धूर्त, कपटी, बेईमान व्यापारियों एवं दलालों (जिन्हें कन्सल्टेंट भी कहा जाता है) का ऐसा वर्ग खड़ा हुआ है जिसका एकमात्र कौशल बैंक तथा वित्तीय संस्थानों को चूना लगाना है। दूसरी ओर सक्षम, योग्य ईमानदार उद्यमियों की एक पीढ़ी प्रायः समाप्त कर दी गयी है। वैश्वीकरण के द्वार पर खड़े देश के लिए यह कोई सुखद स्थिति नहीं है। अब समय आ गया है कि भारतीय बैंक एवं वित्तीय संस्थान बही-खातों एवं वित्तीय कागजातों से ऊपर उठ व्यक्ति की क्षमता, योग्यता एवं गुणों की पहचान करना सीखें; भेड़-चाल में चलना छोड़ नवीन विचारों का मूल्यांकन करना सीखें। न्यायालय तथा न्यायाधिकरण शल्य-चिकित्सक की तरह अंग को काट कर अलग तो कर सकते हैं पर स्वास्थ्य नहीं दे सकते। यदि बैंक एवं वित्तीय संस्थान स्वस्थ रहना चाहते हैं तो उन्हें अपने ऋण-ग्राहकों के स्वास्थ्य-निर्माण को अपना प्रथम ध्येय बनाना होगा। यदि वे ऐसा नहीं कर पाये तो वे एक सक्षम युवा देशभक्त इंजीनियर को ही नहीं, अपितु पूरे देश को डूबत खाते में डाल देंगे।

१६ जनवरी, २०००



नाम से अनिल, सोच से अनल
यों अनल अनिल, यानि गरम हवा
यानि एक आक्रोशी तरुण-प्रतिभा!

कुल से क्षत्रिय, लेकिन अपनी चेतना से ब्राम्हण
यों कहें कि परशुराम का अंश!

उसका प्रिय विषय है समाज-दर्शन
और अपनी बात कहने की उसकी विधा है निबन्ध।
उसका मन्तव्य है विषम का उच्छेदन
और उसका गन्तव्य है सम का अधिष्ठान!

तर्क की तुला पर तौलकर वह अपनी बात कहता है।
प्रश्नों के उत्तर खोजने के क्रम में वह उपप्रश्नों
और प्रतिप्रश्नों का स्वागत करता है।

वह धैर्य से दूसरों को सुनता है और
अपेक्षा करता है कि आप उसे धैर्य से पढ़ें-सुनें।
आप उसे पढ़ेंगे तो वह आपको उद्वेलित करेगा।
आप उससे असहमत होंगे तो उसे बुरा नहीं लगेगा,
हाँ, आपको बुरा लग सकता है!

अगर आप अपने विचारों में यथोचित संशोधन के लिए तैयार हैं,
तो वह भी अपने विचारों में संशोधन के लिए तैयार है।
यानि वह जड़ नहीं है।
लेकिन उसे भारतीय अस्मिता की जड़ों की तलाश जरूर है!

शुभम्, शुभम् !

डा० देवेन्द्र दीपक

राष्ट्रीय उपाध्यक्ष
अखिल भारतीय साहित्य परिषद
